गुजरात एवं राजस्थान में नारी उत्थान के विशेष सन्दर्भ में महात्मा ज्योतिबा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों की प्रासंगिकता

कोटा विश्वविद्यालय कोटा

को

पीएच.डी.

कला संकाय (इतिहास)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

शोध निर्देशिका

डॉ. शशि अरोड़ा

पूर्व वरिष्ठ व्याख्याता, इतिहास विभाग

राजकीय महाविद्यालय, कोटा

शोधार्थी

कृष्ण लाल नाई

कोटा विश्वविद्यालय

कोटा (राज.)

2015

CERTIFICATE

(i) Thesis entitled "गुजरात एवं राजस्थान में नारी उत्थान के विशेष सन्दर्भ में महात्मा ज्योतिबा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों की प्रासंगिकता" submitted by Krisn Lal Nai is an original piece of research work carried out by the candidate under my supervision.

(ii) Literary presentation is satisfactory and the thesis is in a form, suitable for publication.

(iii) Work evinces the capacity of the candidate for critical examination and independent judgment.

(iv) Candidate has put in at last 200 days of attendance every year.

Signature of the supervisor

Place :

Date :

Dr. (Smt.) Shashi Arora
Former Senior Lecturer
Department of History
Govt. P.G. College, Kota

गुरु वन्दना

"गुरुर् ब्रह्म गुरुर् विष्णु गुरुर् देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवेनमः" ।।

भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान ईश्वर से भी उच्चतर अवस्थित किया गया है। डॉ. राधाकृष्णन् ने गुरु वन्दन को पिरोते हुए वल्लटी गुम्फित की है – गुरु के दीप का प्रकाश हमारे अन्तर्मन में जाज्वल्यमान ज्योति पुंज अनिन्घ रूप से चिरंतन अभिप्रकाशित करता है।

गुरु ही हमें सत्य–असत्य, अच्छे और नीर–क्षीर विवेक का ज्ञान सागर की विशालता के समतुल्य प्रदान करता है। वही हमारे जीवन की नौका को दिशा प्रदान करता है। मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे निर्देशिका के रूप में डॉ. शशि अरोड़ा, पूर्व वरिष्ठ व्याख्याता, स्नातकोत्तर विभाग (इतिहास), राजकीय महाविद्यालय, कोटा का मार्ग दर्शन गहन अवलम्बन के रूप में अविराम प्राप्त हुआ है। विविधतापूर्ण भूमिकायें निर्वहन करते हुए उन्होंने कभी गुरु, कभी अन्नपूर्णा, कभी माता के रूप में प्रतिमान होकर इस शोध प्रबन्ध कलिका को पूर्ण प्रस्फुटित करते हुए पूर्णता प्रदान की है। यह उनका अनन्त एवं विराट इतिहास ज्ञान एवं विषय पर पूर्ण नियंत्रण एवं नीरद सी समझ ही है जिसके कारण यह शोध प्रबन्ध वर्तमान मूर्तरूप में साकार हुआ है।

निर्झर सी पराकाष्ठा से अभिभूत करते हुए स्वयं के कार्यों से कहीं अधिक महत्ता प्रदान करते हुए जो अनुगृह एवं सहायता–राशि मुझे आपके द्वारा प्रदान की है उसे शारदा भी अपनी लेखनी से सतत् रूप से अवगुंठनवती होकर भी मेरे लिए सम्भव नहीं बन पायेगी। अतएव, आभार रूपी कुमुद समूह मैं उनके श्री चरणों में प्रस्तुत करते हुए अभिवन्दन एवं वन्दन अर्पित करता हूँ।

आपका यह अपरिमित स्नेह, आशीर्वाद एवं मार्ग–दर्शन मेरे जीवन–सुधियों में सूर्य रश्मियों की अपार उर्जा आन्दोलित करते हुए अमूल्य थाती की तरह सदैव आलोकित करता रहेगा।

कृष्णलाल नाई

नमन

भारतीय वांग्मय में उद्घोष अभिप्रकट है – सा विद्या या विभुक्तमे। इसी अनुक्रम में शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्य की महती अभिव्यक्ति धार्मिक जगत के महायज्ञ में आहुति के समकक्ष है। इस शस्य श्यामला वसुंधरा की आंचलिक में मैं अतीव सौभाग्यशाली हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस महायज्ञ को निर्विध्न सम्पन्न करने में सर्वशक्तिमान ईश्वर की असीम अनुकम्पा के साथ सौम्य, मृदुल एवं पितृ तुल्य इतिहास मर्मज्ञ प्रोफेसर डॉ. श्री जी.एस.एल. देवड़ा, भूतपूर्व कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा का अनवरत स्नेह, आशीर्वाद, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्रतिक्षण कृपा वर्षण के रूप में प्राप्त हुआ है। यह उनकी केसर की क्यारी सी महकती प्रेरणा है कि इस शोध प्रबन्ध को इस दक्षता व उच्च कोटि के स्तर पर मैं पूर्ण कर सका हूँ।

एतदर्थ, अन्तःस्थल की गहनतम गहराईयों से मैं उनका आभार अभिव्यक्त कर स्वयं को गौरवान्वित करता हूँ। आशा ही नहीं, पत्युत् पूर्ण विश्वास की अगाध सरिता प्रवाहमान है कि उनका सम्यक आशीर्वाद सदैव मेरे साथ बना रहकर कृतार्थ एवं उजासमान करता रहेगा।

इन्हीं शब्द सुमनों की पंखुरी–अंजुरी सहित !

कृष्णलाल नाई

आभार

सच्चिदानन्दधन, परिपूर्ण एवं शाश्वत ईश्वर के प्रति असीम आभार की अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए श्री पी. के. दसौरा, माननीय कुलपति, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा का विशेष आभार, उनके द्वारा प्रदत्त सर्वांगीण एवं सर्वतोमुखी आयामों के लिए, प्रस्तुत करता हूँ।

श्री ओमप्रकाश ऋषि, निदेशक शोध प्रबन्ध संकाय, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा का विशेष आभार कि उनके द्वारा इस महत्ती उपलब्धि में चार चाँद लगाये गये।

श्री टी. एस. लाहोटी, प्राचार्य राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा को इस ज्ञान सरिता में स्नान कराने हेतु विशेष आभार। साथ ही उपाचार्य राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा डॉ. हेमलता लोया का विशेष आभार, उनके प्रखर दिग्दर्शन हेतु।

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा के इतिहास विभाग के समस्त संकाय सदस्य, कर्मचारीवृन्द पुस्तकालयाध्यक्ष, पुस्तकालय कर्मचारीवृन्द एवं कोटा विश्वविद्यालय, कोटा के पुस्तकालयाध्यक्ष एवं पुस्तकालय कर्मचारी वृन्द की परिचर्चा बिना आभार अधूरा रहेगा क्योंकि इनके द्वारा खेत में फैली चाँदनी की तरह इस प्रयास को आलोकित किया गया है।

साथ ही कोटा विश्वविद्यालय के श्री संजय दुबे एवं श्री हनुमान सिंह शक्तावत के अनुपम सहयोग हेतु कृतज्ञता करना इस आलेख को सुगन्धित करेगा। सचिव लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगरश्री चुरू ट्रस्ट, चुरू के श्री श्यामसुन्दर शर्मा (से.नि. प्राचार्य) को उनकी अनुपम विद्या द्वारा सहयोग हेतु उनका आभार प्रदर्शित करना अत्यन्त सुदृढ़कारी होगा।

इस संसार में अवतरित करने की अनुकम्पा प्रदान कर संस्कार सरिता में स्नान हेतु उद्यत करने वाली पुण्य सलिला माँ श्रीमती सुखी देवी एवं अगुँली पकड़ कर जीवन मार्ग पर चलने वाले पिता श्री लादूराम जी नाई को आभार की अभिव्यक्ति शब्दातीत है।

पूज्य बड़े भाई मनीराम, राजेश एवं श्रीचन्द के आशीर्वाद के बिना इस नीड़ का निर्माण सम्भव ही नहीं था। मेरे जीवनाधार के लिए समस्त निधियाँ एवं ऊर्जा स्विता सादर समर्पित।

पत्नी श्रीमती सुमन के बिना इस शोध प्रबन्ध के लेखन और प्रस्तुतीकरण के महदनुष्ठान में प्राप्त सहयोग के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

पुत्री आंचल की ज्ञानमयी अठखेलियाँ मुझे आभार प्रदर्शन हेतु वल्लटी का अवलम्बन प्रदान करती है।

मैं व्यक्तिशः आभारी हूँ श्री ओम प्रकाश शर्मा का, जिन्होंने नीर–क्षीर में प्रवाहित हंसिका की भूमिका का निर्वहन किया तथा अमूल्य समय निधि व्यतीत कर टंकन कार्य साकार रूप में मूर्त किया।

कृष्ण लाल नाई

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय वस्तु	पृ.सं.
1.	प्रमाण पत्र	
2.	गुरू वन्दना	
3.	नमन	
4.	आभार	
5.	संक्षिप्तिकरण	
5.	**प्रथम अध्याय : शोध कार्य में प्रयुक्त शोध पद्धति** विषय की व्याख्या, शोध का मुख्य उद्देश्य, शोध का मुख्य महत्व, पूर्व में किये गये कार्यों का मूल्यांकन	1—18
7.	**द्वितीय अध्याय : ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठ भूमि (गुजरात एवं राजस्थान के विशेष संदर्भ में)** सामाजिक जीवन, सामन्त व्यवस्था, सामाजिक विसंगतियाँ, चेतन प्रसार युग	19—36
8.	**तृतीय अध्याय : महात्मा ज्योतिबा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों का जीवन परिचय (गुजरात एवं राजस्थान के विशेष संदर्भ में)** ज्योतिबा का जन्म, बाल्यकाल और शिक्षा, विवाह और विद्याध्ययन, अपमान की आग, ज्योतिबा के प्रेरणा स्रोत, अन्तिम यात्रा की ओर, स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय, आरम्भिक जीवन, हरविलास शारदा, शारदा का जीवन परिचय, आर्य समाज और हरविलास शारदा, सामाजिक गतिविधियाँ	37—80
9.	**चतुर्थ अध्याय : शैक्षणिक क्षेत्र में योगदान—समाज सुधार का प्रथम सोपान** ज्योतिबा की शिक्षा, स्त्री शिक्षा का संकल्प, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, अछूतों की शिक्षा, हटर कमीशन और ज्योतिबा के विचार	81—119

10.	**पंचम अध्याय : सामाजिक–धार्मिक कुरीतियों के विरूद्ध विद्रोह समाज सुधार आन्दोलन का द्वितीय सोपान** कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के विरूद्ध संघर्ष, विधवा की सामाजिक स्थिति, विधवा विवाह को प्रोत्साहन, बाल विवाह प्रथा का विरोध, बाल हत्या प्रतिबन्ध ग्रह की स्थापना, सती प्रथा पर रोक, अछूतों के लिये पानी की व्यवस्था करना, सत्यशोधक समाज की स्थापना, देवदासी प्रथा पर प्रहार, राजस्थान में स्त्रियों की स्थिति–सती प्रथा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, बहु विवाह, कन्या वध का अन्त, विधवाओं की दुर्दशा, डाकन प्रथा, त्याग प्रथा का नियमन, कन्याओं तथा स्त्रियों का क्रय–विक्रय, दास–दासी प्रथा, अस्पृश्यता, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, नारी शिक्षा पर बल, राजपूतहित कारिणी सभा	120–170
11.	**षष्ठम अध्याय : श्रमिकों और किसानों के हितार्थ तथा उनका आर्थिक पक्ष–समाज सुधार आन्दोलन का तृतीय सोपान** किसान और कृषि की स्थिति, सामाजिक विषमता, किसानों के भूमि–स्वामित्व पर बल, किसानों के सर्वांगीण विकास पर बल, श्रमिक और उनकी स्थिति पर ज्योतिराव का दृष्टिकोण, किसानों की दुर्दशा सुधारने के लिए ज्योतिराव द्वारा सुझाये गये अन्य उपाय	171–188
15.	**सप्तम अध्याय : समाज सुधारकों के सामाजिक विचार** तृतीय रत्न नाटक 1855, पंवाडा छत्रपति राजा शिवाजी भोसले 1869, ब्राह्मणों की चालाकी (ब्राह्मणाचेकसब 1869) गुलामगीरी 1873, किसान का कोड़ा (1883)	189–212
16.	**अष्ठम अध्याय : उपसंहार**	213–221
17.	**परिशिष्ट**	222
18.	**शाब्दिक भावार्थ**	223–225
19.	**संदर्भ ग्रंथ सूची**	226–241

संक्षिप्तिकरण

1.	रा. रा. अ. बी.	:	राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
2.	अ. सं. पु. बी.	:	अनुप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
3.	रा. प्रा. वि. प्र. जो.	:	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
4.	स. भ. पु. उ.	:	सरस्वती भंडार पुस्तकालय, उदयपुर
5.	ओ. रि. इं. उ.	:	ओरियटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, उदयपुर
6.	जे. एन. यू.	:	जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी, दिल्ली
7.	म. मा. पु. प्र. जो.	:	महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर
8.	रा. प्रा. वि. प्र. को. शा.	:	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान कोटा शाखा
9.	चौ. शो. प्र. जो.	:	चौपासनी शोध प्रतिष्ठान, जोधपुर
10.	न. श्री. शो. सं. चू.	:	नगर श्री शोध संस्थान, चुरू
11.	पू. रा. सं. पू.	:	पूना राष्ट्रीय संग्रहालय, पूना
12.	अ. रा. पु. अ.	:	अजमेर राष्ट्रीय पुस्तकालय, अजमेर

अध्याय प्रथम

शोध कार्य में प्रयुक्त शोध पद्धति

अध्याय प्रथम

शोध कार्य में प्रयुक्त शोध पद्धति

इस अध्याय में प्रस्तावित शोध कार्य से संबंधित शोध समस्या की प्रकृति को विस्तारपूर्वक जानने, समझने व स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। साथ ही प्रस्तावित शोध कार्य से संबंधित प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मूल स्रोत एवं संबंधित साहित्य का अवलोकन कर विस्तृत विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। जिस समय महात्मा फुले का जन्म हुआ उस समय का तत्कालीन भारत का वातावरण, गुजरात एवं राजस्थान के विशेष संदर्भ में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक दशा का वर्णन एवं समाज में हो रहे बदलाव का विस्तृत अध्ययन कर शोध की रूपरेखा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया है।

महात्मा ज्योतिराव फुले ने किस प्रकार एक निम्न परिवार में जन्म लेकर तत्कालीन समाज में हो रही सामाजिक बुराईयों का विरोध किया तथा किस प्रकार उनको उसमें सफलता मिली और इस सफलता का किस प्रकार गुजरात एवं राजस्थान पर प्रभाव पड़ा, इसका खोजपूर्ण अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

महाराष्ट्र की तत्कालीन सामाजिक दशा विशेषतः महिलाओं की दशा को सुधारने में महात्मा फुले एवं उनके समकालीन समाज सुधारकों का तुलनात्मक अध्ययन उनकी उपलब्धियों को उजागर कर वर्तमान में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।[1]

विषय की व्याख्या

ज्योतिराव गोविन्द राव फुले जिन्हें लोग आदर से 'महात्मा फुले' या 'महात्मा ज्योतिबा फुले' कहकर अभिहित करते है, का आविर्भाव सन् 1827 में पूणे (महाराष्ट्र) में हुआ। इनकी जन्म तिथि के बारे में स्पष्ट एवं निर्विवाद जानकारी उपलब्ध नहीं है। ज्योतिराव फुले द्वारा लिखित पत्रों, पुस्तकों एवं उनकी वसीयत में भी उनकी जन्म तिथि का उल्लेख नहीं है। उनके जीवन पर प्रणीत पुस्तकों में भी जन्म के वर्ष का ही उल्लेख मिलता है, तिथि एवं माह का उल्लेख नहीं मिलता है, महाराष्ट्र में महात्मा फुले की जयन्ती 20 फरवरी को प्रतिवर्ष मनाई जाती है। इस बारे में दिल्ली से प्रकाशित साप्ताहिक हिन्दी पत्र 'बहुजन संगठन' के अंकों को देखा गया। उनसे ज्ञात हुआ कि भारत में फुले की जयन्ती पर मेलों का आयोजन 20 फरवरी को ही होता है। 'भारतीय समाज क्रांति के जनक महात्मा ज्योतिबा फुले' पुस्तक के लेखक डॉ. शाह, मु. बं. ने अपनी इस पुस्तक में 20 फरवरी का उल्लेख किया है।[2]

गुजरात एवं राजस्थान में नारी उत्थान के विशेष सन्दर्भ में महात्मा ज्योतिबा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों की प्रासंगिकता का अध्ययन एक व्यापक एवं विस्तीर्ण विषय है। इसमें उन सभी समकालीन, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक गतिविधियों के साथ–साथ गुजरात एवं राजस्थान में सामाजिक कुरीतियों का विवेचन भी सम्मिलित है जिन्होंने महात्मा फुले के विचारों के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। उनके साहित्य व कार्यों का अध्ययन भी इसमें समाहित किया गया है जिससे उनके विचारों की वास्तविक, सम्यक् एवं संतुलित जानकारी उपलब्ध हो सके।[3]

सार्वजनिक सत्यधर्म पर ज्योतिराव फुले के विचारों की विशद् व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। सामाजिक क्षेत्र में वर्णाश्रम धर्म एवं जातिभेद पर आधारित समाज व्यवस्था, हिन्दू धर्म की अतार्किक मान्यताओं, अंधश्रृद्धाओं, आडम्बर–पाखण्ड़ों का भारतीय जन–जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा? इसका भी विश्लेषण इसमें दिया गया है।

स्त्रियों एवं शूद्रों के लिए शिक्षा के सदियों से बंद दरवाजे खुलवाकर उनके लिये विद्यालयों की स्थापना करने से संबंधित महात्मा फुले के कार्यों का गवेषणात्मक चित्रण भी किया गया है।[4]

ज्योतिराव फुले के द्वारा हिन्दू समाज के शूद्रादि अतिशूद्रों (दलित और पिछड़े वर्ग के लोग) की समस्याओं को अपने साहित्य में उजागर करने की कोशिश की गई है, उन्हें इसमें किस हद तक सफलता मिली है, इसका भी विवेचन किया गया है। उन्होंने कुनबी किसानों के सवालों को उठाया, गाँव–देहात में गाँव का मुखिया, जमींदार, साहूकार, कुलकर्णी, ब्राह्मण पुरोहित भट्टजी, बनिया, सेठजी और पटवारी आदि लोग, किसानों की अज्ञानता का लाभ उठाकर किस प्रकार उनका शोषण करते है, इसका जो उल्लेख फुले साहित्य में मिलता है उसकी तुलना समकालीन अन्य विचारकों और समाज सुधारकों के कार्यों से करने का प्रयास किया गया हैं। महात्मा फुले के बारे में भाम्रक धारणा फैली हुई है कि वे ब्राह्मण विरोधी थे। इस शोध प्रबन्ध में यह जानने का प्रयत्न किया गया है कि क्या उनके विचारों एवं साहित्य से ऐसा परिलक्षित होता है? क्या वे वास्तव में ब्राह्मण विरोधी थे? या उन पर मिथ्या दोषारोपण किया गया है। उन्होंने ब्राह्मणी धर्म ग्रंथों में वर्णित तथ्यों एवं विचारों का किस तरह खण्डन किया है, इसका विवेचन भी प्रस्तुत शोध में किया गया

है। सवर्णों ने धर्म की आड़ में किस तरह से शूद्रादि–अतिशूद्रों, कुनबी–किसानों (बहुजन–समाज) एवं हर वर्ग की नारी को हजारों वर्षों से मानसिक एवं शारीरिक गुलाम बनाकर ठगा है, आदि तथ्यों का विश्लेषण भी किया गया है और निष्पक्ष निष्कर्ष निकाले गये हैं।[5]

19वीं सदी में भारत में अंग्रेजी की नई शिक्षा प्रणाली की वजह से जो नया शिक्षित वर्ग पैदा हुआ उसमें से कुछ लोगों का ध्यान भारतीय समाज की कुरीतियों की ओर गया। उन्होंने समाज की अमानवीय कुप्रथाओं के विरूद्ध, धार्मिक सड़न के विरूद्ध जागृति लाने की कोशिश की। इसे नवजागरण काल माना जाता है। इसकी शुरूआत बंगाल के राजा राममोहन राय, महाराष्ट्र में रानाडे, आगरकर, जाम्मेकर, पंजाब और उत्तरी भारत में दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द ने की। इन कतिपय समाज सुधारकों द्वारा सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में सुधार के लिये जो आन्दोलन चलाया गया, वह शहरी तथा उच्च वर्णीय लोगों तक ही सीमित रहा। उनका समाज सुधार का आन्दोलन सामान्य जन यथा ग्रामीण किसानों, आदिवासियों, दलितों, पिछड़ों की मुक्ति का आन्दोलन क्यों नहीं बन पाया? इन समाज सुधारकों तथा ज्योतिबा फुले की सोच में क्या बुनियादी अन्तर रहा है? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर जाने का यहां प्रयास किया गया है। ईश्वर के संबंध में फुले की परिकल्पना, आर्थिक क्षेत्र में मिल मजदूरों की दुर्दशा, सामाजिक क्षेत्र में बाल–विवाह प्रथा तथा विधवा विवाह निषेध के बारे में फुले साहित्य से और उनके कार्यों में उनके विचारों की जो जानकारी प्राप्त होती है, उसका भी विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक क्षेत्र में शूद्र वर्ग के लोगों, कुनबी–किसानों, खेतिहर मजदूरों, अस्पृश्यों तथा महिलाओं को मानवीय अधिकारों का जिनसे उन्हें समकालीन

समाज व्यवस्था ने किस तरह वंचित कर दिया था और ज्योतिराव फुले ने उन्हें बहाल कराने में किस हद तक सफलता प्राप्त की, इन समस्त मौलिक एवं आधारभूत मानवीय मूल्यों तथा तथ्यों की भी इस शोध प्रबन्ध में विवेचना की गई है।

ज्योतिराव फुले ने जिस तरह महाराष्ट्र में नारी उत्थान में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। इनके कार्यों को उत्तर भारत में विशेष कर गुजरात एवं राजस्थान में दयानन्द सरस्वती और हरबिलास शारदा ने आगे बढ़ाया। उनका समाज सुधार के प्रति किये गये कार्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।[6]

अध्ययन का महत्व :

19वीं सदी में भारत में विभिन्न धार्मिक व समाज सुधार आन्दोलन चल रहे थे। इन्हीं के समानान्तर महाराष्ट्र में दलितों व महिलाओं की शिक्षा व्यवस्था के लिए तथा शूद्रादि–अतिशूद्रों, मजदूरों, किसानों, समाज के कमजोर वर्ग को वर्ण व्यवस्था, जन्म समाज द्वारा थोपी गई मानसिक तथा सामाजिक दासता से मुक्ति के लिये एक सशक्त आन्दोलन ज्योतिबा फुले द्वारा चलाया गया जिसका प्रभाव पूरे भारत में पड़ा। लेकिन महात्मा फुले के योगदान का अभी तक सम्यक् विवेचन नही हो सका है। परिणाम–स्वरूप उनका साहित्य, दर्शन, चितंन उनके जीवन काल में तथा उनके निधन के पश्चात् भी काफी समय तक महाराष्ट्र के बाहर नहीं जा सका। 20वीं शताब्दी में डॉ. अम्बेडकर एवं राजस्थान में हरबिलास शारदा ने उनकी विचारधारा तथा उनके द्वारा महाराष्ट्र में सामाजिक परिवर्तन, महिला तथा दलित शिक्षा, शूद्रादि, अतिशूद्रों की दशा में सुधार हेतु किये गये कार्यों तथा उनके द्वारा रचित साहित्य का सम्यक

अध्ययन किया और उनके जीवन–दर्शन तथा विचारधारा से प्रभावित होकर भारत के संविधान में समुचित प्रावधान कर उनके विचारों को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया।[7]

महात्मा ज्योतिराव फुले के समकालीन समाज सुधारकों में दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, बालगंगाधर तिलक, हरबिलास शारदा, प्रभूति समाज सुधारकों की लम्बी सूची हैं, जिन्हें विभिन्न सरकारों तथा इतिहासकारों द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतकों की श्रेणी में रखा गया है और पाठ्य–पुस्तकों में भी उन्हें स्थान दिया गया लेकिन इनमें महात्मा ज्योतिराव फुले को आजादी के 67 वर्ष बाद भी सरकारों तथा इतिहासकारों द्वारा सम्मिलित नहीं किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि महात्मा फुले के समाज सुधार के कार्यों का शूद्रादि–अतिशूद्रों के जीवन को ऊँचा उठाने, महिला शिक्षा के प्रचार–प्रसार, भारतीय समाज से विषमता और गैर बराबरी का उन्मूलन करने तथा मानवीय गरिमा तथा मानव के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करने संबंधी प्रयासों का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ है। आजादी के पहले और बाद के प्रारम्भिक दशकों में जितना अध्ययन और मूल्यांकन उनके दर्शन, कार्यों और विचारधारा का होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका। यह सब अनजाने में हुआ हो या जानबूझकर उनके कार्यों, विचारधारा को नजर अंदाज किया जाता रहा है, विचारणीय प्रश्न बना हुआ है। हमारे देश में सदियों से यह होता चला आ रहा है कि जो लोग परम्परागत समाज व्यवस्था को बदलने की बात करते हैं, प्रयत्न करते हैं और एक नई समाज व्यवस्था की रचना करते हैं, वे सदैव अपेक्षा के पात्र बनते रहते है।[8]

प्रस्तुत शोध ग्रंथ में महात्मा फुले एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती और राजस्थान में हरबिलास शारदा के मौलिक साहित्य जो उनके नाटकों में, अभंगों में अखण्ड़ों मे, काव्य में तथा अन्य साहित्य में लिपि बद्ध उपलब्ध है, पद आधारित है। इस शोध प्रबन्ध में प्रयास किया गया है कि महात्मा फुले एवं गुजरात एवं राजस्थान में दयानन्द सरस्वती एवं हरबिलास शारदा के मूल चिन्तन तथा कार्यों की जानकारी जन–जन तक पहुंच सके तथा हमारे विशाल एवं महान देश में समता, स्वतन्त्रता, बन्धुता, सामाजिक न्याय एवं मानवीय गरिमा पर आधारित सामाजिक प्रजा के मूल तत्व बन सके, जिसकी महात्मा फुले के कल्पना की थी और जीवन पर्यन्त उसे मूर्त रूप देने हेतु सत्यशोधक समाज के माध्यम से अथक प्रयास किया तथा उसे अपने जीवन में अवतरित कर व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया।[9]

महात्मा ज्योतिराव फुले ने समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति, शिक्षा, स्त्री–पुरूष समानता, आरक्षण और सामाजिक न्याय आदि अनेक क्षेत्रों में नये विचार, नई अनुभूतियाँ और नये मूल्य प्रस्थापित किये। इन क्षेत्रों में उनके द्वारा किया गया कार्य ऐतिहासिक और क्रान्तिकारी तो है ही, साथ ही नई समाज रचना को जन्म देने वाला है। हमारे समाज की दीन–हीन, अवनत स्थिति का उनके द्वारा किया गया विश्लेषण जितना मूलभूत और मूलगामी है उतना ही नयी दिशा निर्देश करने वाला भी है। इसलिए इतना समय व्यतीत होने के बाद, स्थितियाँ बदलने के बाद भी उनकी मौलिकता और उपयुक्ता आज भी कायम है।[10]

आज सारे सामाजिक जीवन में एक तरह की शिथिलता छाई हुई हैं, ऐसे समय में ज्योतिराव के विचारों की विरासत लेकर ही भविष्य का मार्ग

को प्रशस्त कर सकेगी। इन विचारों से परिचत पाकर ही समाज प्रबोधन और समाज परिवर्तन का अधूरा कार्य पूर्णत्व को पहुंचा सकेगा तथा अक्षय और अम्लान विचारधारा फिर से समाज के सामने आ सकेगा। हिन्दी भाषा अधिकांश लोग उचित माध्यम के अभाव के कारण महात्मा फुले के संघर्षशील जीवन, कार्यों तथा विचारों से और साहित्य से अवगत नहीं है। प्रयास रहा है कि महात्मा फुले के जीवन दर्शन के, साहित्य और चिन्तन का अन्य समाज सुधारकों, विचारकों के संदर्भ में एक सम्यक् सन्तुलित, वास्तविक एवं समालोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत हो ताकि उनके विचारों से आम आदमी, किसान, मजदूर, अपेक्षित–शोषित लोग प्रेरणा ले सकें तथा समाज में अपना स्थान पहचान कर गरिमामय जीवन व्यतीत कर सकें।[11]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ज्योतिराव फुले के विचारों का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जिसमें समकालीन समाज सुधारकों, विचारकों महापुरूषों के विचारों को भी समाहित करते हुये उनका महात्मा फुले के विचारों के संदर्भ में तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। महात्मा ज्योतिराव फुले के द्वारा आरम्भ से अन्त तक किये गये कार्यों, उनके द्वारा रचित साहित्य, उनके समाज सुधार के प्रयासों का क्रमबद्ध वर्णन एवं विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया हैं। विचारों का विकास क्रम, युग परिस्थितियों का प्रभाव, 19वीं शताब्दी के समाज सुधार आन्दोलनों को क्रमबद्ध रखा गया है। महात्मा फुले के मूल ग्रन्थों के साथ–साथ अधिकारिक विद्वानों की टिप्पणियों का प्रयोग करते हुये प्रतिपाध विषय के संदर्भ में निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।[12]

शोध विधि :

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त शोध विधि महात्मा ज्योतिराव फुले, दयानन्द सरस्वती एवं हरबिलास शारदा से सम्बन्धित अभिलेखीय संग्रहालयों जिनमे राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर, नगरश्री शोध संस्थान, चुरू, राजकीय डूंगर महाविद्यालय का पुस्तकालय लोहिया महाविद्यालय, चुरू, राजस्थान हिन्दी ग्रंथागार, जोधपुर, राजकीय कोटा महाविद्यालय का पुस्तकालय से संकलित विभिन्न प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष सामग्री का अध्ययन कर इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने का प्रयास किया गया है। दयानन्द वैदिक पुस्तकालय अजमेर, पूणे राष्ट्रीय संग्रहालय महाराष्ट्र, खेतड़ी संग्रहालय, खेतड़ी, झुन्झुनूं, विसाऊ सार्वजनिक पुस्तकालय झुन्झुनूं, मण्डावा सार्वजनिक पुस्तकालय मण्डावा से भी शोध कार्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सहायता मिली। गुजरात एवं राजस्थान में नारी उत्थान के विशेष सन्दर्भ में महात्मा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों की प्रासंगिता पर शोध कार्य में केवल लिखित पुस्तकें ही पर्याप्त नहीं थी बल्कि इससे सम्बन्धित जानकारी विद्वानों से प्रत्यक्ष रूप से जानकारी एकत्रित कर शोध प्रबन्ध को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तावित शोध का मुख्य उद्देश्य :

किसी भी समाज का विकास स्तर उसकी समृद्धि, सम्पन्नता व प्रतिष्ठा को समझने के लिए उसमें नारी की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रयास से शीशे की भांति उस समाज में नारी की स्थिति एवं उसकी विशिष्टता तथा संस्कृति उभर कर सामने आ जायेगी। समाज की केन्द्रीय धुरी होने के कारण पुत्री, पत्नी व माता के रूप में नारी की विशिष्ट महत्ता है।

माता के रूप में वह सृष्टा है, पत्नी के रूप में वह परिवार का संचालन करती है व पुत्री के रूप में मान्यताओं एवं परम्पराओं के निर्वहन को बढ़ाती है।

ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में यह अध्ययन अत्यन्त रोचक एवं तथ्यपरक विषय वस्तु से परिपूर्ण है। परिवार व समाज का एक सशक्त भाग होते हुए भी नारी की जीवन यात्रा अनेक उतार–चढ़ाव के बीच निकलती है। विश्व की चार सबसे पुरानी व समृद्ध सभ्यताओं में जिस सैन्धव सभ्यता का नाम सम्मिलित है, ने परम नारी, मातृ देवी या प्रकृति देवी के रूप में उसके जननी स्वरूप को अंगीकार करते हुए उसे शक्ति रूप में स्थापित किया। भारतीय संस्कृति की पहली पहचान के रूप में वेदों मे न केवल उसे यज्ञ सम्पादित करने की अनुमति दी गई, बल्कि ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं की रचना का श्रेय भी दिया तथा यह प्रभावित किया कि शिक्षा के क्षेत्र में वह अग्रणी थी। शिक्षित समाज, शिक्षितजन पल्लवित हुई। यह वैदिक समाज ने प्रत्यक्ष कर दिखाया। दार्शनिक वाद–विवाद, तर्क शक्ति में परिपूर्ण प्राप्त करते हुए भी यह आभास प्रारम्भ हो गया था कि पुत्री प्राप्ति की कामना करना श्रेयस्कर है। विवाह का उद्देश्य भी पति–पत्नी के सभी अन्तर्निहित गुणों का विकास माना गया था। एक स्त्री से विवाह मान्य था परन्तु अधिक सम्पन्नता ने बहुपत्नी की स्वीकृति दे दी थी। अर्धांगिनी का विरूद्ध स्थिर था परन्तु पति के प्रति निष्ठा उसका स्वाभाविक गुण माना गया। 'मनु' ने पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्री को लक्ष्मी स्वरूपता कहा व स्त्री खेत है व पुरूष बीज, कहकर दोनों के दायित्वों को निश्चित करने का प्रयास किया। 'पंचतंत्र' का लेखक पुत्री के जन्म पर पिता को बहुत चिंतित दिखलाता है, क्योंकि उसे उसके लिये योग्य वर की तलाश थी। विवाहोपरान्त भी वह इस चिन्ता से उभर नहीं पाता कि पुत्री विवाहित

अवस्था में सुखी रहेगी या नहीं। ये शंकाएं बदलते परिवेश व नारी के प्रति बदलते दृष्टिकोण को इंगित करती है। पहली शताब्दी की रचना 'गाथा सप्तशती' यह प्रमाणित करती है कि नारी शिक्षा अपने उचित मानदण्ड़ों के साथ दी जा रही थी। 'सूश्रग्रंथ' विवाह के उद्देश्य, प्रकार, कार्यविधि पर तो विस्तृत चर्चा करते है परन्तु विवाह विच्छेद को कोई स्थान नहीं देतें।

धीरे–धीरे ऐतिहासिक क्रम में समाज में निहित परिस्थितियाँ बदलती गई। शिक्षा का वृहद स्वरूप सीमित होता गया तो उसका वैदिक स्वरूप भी कहीं अदृश्य होता चला गया। बहुपत्नी प्रथा के प्रचलन के साथ ही 'स्मृतिकारो' ने उसकी स्थिति की स्वाभाविक गिरती गरिमा का चित्रण कर दिया। पुत्र प्राप्ति के लिए 'नियोग' प्रथा ने उसके अधिकारों की भी व्याख्या कर दी परन्तु स्मृतिकारों में याज्ञवल्क्य स्मृति में सामाजिक संतुलन को किसी हद तक बनाये रखने के लिए नारी के सम्पत्ति अधिकारों को कुछ अर्थों में मान्यता दे दी।

धर्म ग्रंथों ने विधवा विवाह पर कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर रोक लगा दी। उसे तपस्विनी जीवन जीने के लिए निर्देशित किया गया। बौद्ध धर्म ने निर्वाण के लिए नारी को प्रोत्साहित तो किया परन्तु संघ में उसका प्रवेश निषिद्ध बना दिया। शिक्षा इस काल में ललित कला की दक्षता व निपुणता तक ही सीमित होकर रह गयी व गणिकाओं तथा नृत्यांगनाओं का एक सीमित वर्ग समाज में पनपने लगा था। पूर्व मध्यकाल भारतीय इतिहास में अस्थिरता का काल रहा है। बहुपत्नी प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, गंधर्व विवाह, जटिल जाति व्यवस्था के कारण अन्तर्जातीय विवाहों की अस्वीकृति, विधवा विवाह की अस्वीकृति जैसी व्यवस्थाएं बढ़ती गई। मध्यकाल में स्त्री को मर्यादित करने के

लिए निरन्तर उसकी स्वतंत्रता बाधित होती गई। मर्यादा शब्द उसके एकाकीपन स्वरूप व सहेज कर चारदीवारी में रखने वाली स्थिति का द्योतक बन गया। सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बनाकर उसका आचरण, परिवार तदन्तर समाज के उत्थान व पतन के जोड़ दिया गया। शिक्षा का खुला वातावरण कहीं छूट गया। केवल व्यावहारिक ज्ञान को ही शिक्षा मान लिया गया। यदि कहीं कुछ अधिकारों के नाम पर उसके हिस्से में लिखा गया तो वह था, 'स्त्रीधन' पर अधिकार जो दहेज में वह साथ लायी या भेंट स्वरूप उसे मिला, उस पर उसका अधिकार मान लिया गया। इसके विपरीत उसके कर्तव्यों की सूची बढ़ती चली गयी।

परन्तु फिर भी नारी के साहस व संयम को नहीं छू पाया, ना ही रोक पाया। अनेक बंधनों में भी अवसर मिलते ही वह शिक्षा प्राप्त करती तो कहीं प्रशासन की बारीकियों को पकड़ती। अपने पति के साथ कदम से कदम मिला कर चलने की कोशिश अवश्य करती, चाहे उसकी स्थिति पुरूष की तुलना में द्वितीय ही क्यों न रह गयी थी। किसी भी चुनौती, किसी भी विपत्ति का डटकर मुकाबला करने में पीछे नहीं रही। राजस्थान, गुजरात एवं महाराष्ट्र का तो परिवेश ही कुछ अलग रहा, जिसमें भक्ति व शक्ति, ममत्व व ललकार का अलग सा सामंजस्य सदैव बना रहा।

इन विविधताओं को आत्मसात किये हुए आधुनिक गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र क्षेत्र में नारी की स्थिति के अध्ययन का उद्देश्य अपने आप में चुनौतीपूर्ण एवं समसामयिक है। इस अध्ययन के क्षेत्र विशेष की समाज व संस्कृति, अर्थ व राजनीति ने किस प्रकार उसकी स्थिति को प्रभावित किया

तथा किस प्रकार वह स्वयं परम्पराओं व रीति–रिवाजों की संवाहक बन समाज को निरन्तरता देने में सक्षम रही, का विश्लेषण संभव हो पायेगा।

प्रस्तावित शोध कार्य का मुख्य महत्व

ऐतिहासिक भारत की प्राचीनता को समेटे गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र अपने आप में एक अलग पहचान रखते हैं। इन क्षेत्रों में एक ओर नगरीय सभ्यता व प्राचीन राजवंशों के क्षेत्र है, वहीं पठारों, जंगलों में रहने वाली बस्तियों, कृषकों व कारीगरों के गांवों के निवास भी हैं। यह पृष्ठ भूमि सामाजिक व सांस्कृतिक विविधता प्रस्तुत करती है तथा ऐतिहासिक दृष्टि से प्रति रूचि प्रकट करती है। ऐतिहासिक स्रोत, विशेष कर अभिलेखीय सामग्री इस प्रकार के अध्ययन में पूर्णरूप से सहायक है। प्रस्तुत शोध प्रस्ताव में सामाजिक जीवन में नारी की स्थिति व उसके अधिकारों को लेकर एक अध्ययन का प्रयास किया गया है।

19वीं शताब्दी में नारी का सामान्यतः जीवन स्तर, प्राचीन काल की तुलना में संतोषजनक नहीं था। इस युग में राज परिवारों, सम्पन्न घरानों की स्त्रियों तथा जन–साधारण वर्ग की स्त्रियों के रहन–सहन के स्तर के काफी अन्तर था। साधारण वर्ग की स्त्रियाँ अपने परिवार के लिए सहायक थीं। वे अपने जीवन साथी के सभी कार्यों में सक्रिय सहयोगिनी होती थीं। घर व बाहर दोनों जगह वे पुरूष से कंधा मिलाकर कार्य करती थी। इसके विपरीत अपने पद और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के कारण राज परिवार की स्त्रियां उन पर एक भार रूप थी। साथ ही इनका जीवन कुछ कुप्रथाओं के कारण जैसे – पर्दा–प्रथा, बहु–विवाह, खर्चीला दहेज आदि के कारण संतोषजनक नहीं थी।

राजपरिवार तथा सम्पन्न वर्ग में बहु–विवाह प्रथा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। शासकों की पत्नियों की संख्या तो बहुत होती थी, पर साथ ही शासक घराने के निकट सम्पर्क में आने वाले सामन्त तथा मुत्सद्दी वर्ग में भी यह प्रथा सामान्य बन चुकी थी। इस प्रथा को प्रोत्साहित करने के लिए चाहे जितने भी कारण रहे हो परन्तु यह स्पष्ट हो गया था कि अधिक पत्नियां रखना कुलीनों का विशेषाधिकार था। जन–साधारण वर्ग में यह प्रथा प्रचलित नहीं हो सकी। इसी प्रथा के साथ शासकों व सामन्तों में उप–पत्नियां रखना भी सामान्य बात बन गई थी, ऐसी पत्नियां जन–साधारण वर्ग में कोई सुरक्षा व मान्यता प्राप्त नहीं करती थी।

इस युग में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन भी हो चुका था। इसे प्रोत्साहित करने का कारण पूर्णतः राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करना था। केन्द्रीय शक्तियों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप स्थानीय शासकों को अपने राज्य की स्वतंत्रता व सुरक्षा बनाये रखने में यथेष्ट सहायता तो मिली ही थी, साथ ही मुगल दरबार में उच्च मनसब प्राप्त कर अपने सम्मान को भी बढ़ाया था। यह स्वरूप केवल राज परिवारों तक ही सीमित रहा जिसमें आधुनिक युग में समाज सुधारकों ने नारी उत्थान के प्रति विशेष रूची दिखाई।

सम्पति अधिकारों के प्रश्न पर राज परिवार एवं सम्पन्न परिवारों की स्त्रियां शासक अथवा सामन्त की कृपा पात्र बनी रहने पर कई गांवों के पट्टे, पट्टों (जागीरो) से होने वाली आमदनी तथा राजकोठ्यार से निर्धारित खाद्य सामग्री तथा अन्य सुविधाओं प्राप्त करती रहती थी। यद्यपि इस वर्ग की स्त्रियों के सम्मुख जीवन निर्वाह की कोई जटिल समस्या नहीं होती थी, तथापि बहुविवाह के बाहुल्य से सभी स्त्रियों को समान अधिकार नहीं मिल पाते थे।

जन–साधारण वर्ग की स्त्रियां पति की मृत्यु के पश्चात् समस्त सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। आधुनिक समाज में भी विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। समाज द्वारा विधवा के लिए दो कर्तव्य निर्देशित थे, प्रथम पति के साथ सहमरण एवं द्वितीय ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शेष जीवन व्यतीत करना। वह जीवन पर्यन्त परिवार के अन्य सदस्यों पर आश्रित के रूप में रहती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में राज परिवारों की कुछ स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी, ऐसी स्त्रियों के पाठन विषय धार्मिक एवं पौराणिक गाथाओं वाले ग्रंथ, धार्मिक व्रत व उपवासों सम्बन्धी कहानियां एवं प्रेम गाथाएं थी। कुछ के लिए संगीत, चित्रकला, नृत्य आदि भी रोचक विषय थे।

पर्दा–प्रथा भी 19वीं शताब्दी की एक सामाजिक समस्या है। पर्दा उच्च वर्ग की नारी के सम्मान का प्रतीक माना जाने लगा था जिसके कारण इस प्रथा का पालन कठोरता से किया जाता था। राज परिवार की स्त्रियां कठोर पर्दे में रहती थी। उनकी क्रियायें अन्तःपुर या जनानी ड्यौढी तक सीमित रहती थी। जन–साधारण की उन तक बहुंच नहीं थी। ये कही बाहर यात्रा के दौरान जाते समय बन्द पालकियों अथवा गाड़ियों का प्रयोग करती थी। समृद्ध एवं सम्पन्न परिवारों ने भी अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए पर्दे का पूर्ण अनुकरण किया था। इसी भांति सती–प्रथा भी उस समय राज परिवार एवं सम्पन्न घरानों की स्त्रियों में काफी प्रचलित थी प्रारम्भ में विधर्मियों से अपनी लाज बचाने, कठोर तथा यातनामय वैधव्य जीवन से छुटकारा पाने अथवा आन्तरिक पति–भक्ति व सम्पूर्ण समर्पण की भावना से प्रेरित होकर स्त्रियां सती होती थी।

आधुनिक युग में स्त्रियों के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है–उनका सांस्कृतिक योगदान, धार्मिक, सामाजिक उत्सवों तथा त्योहारों को मनाना सभी वर्गों की स्त्रियों के लिए आनन्द तथा उल्लास का विषय था। सभी वर्ग की स्त्रियां अपनी प्रफुल्लता तथा धार्मिक विश्वासों को में तत्पर रहती थी। सामाजिक उत्सवों तथा परम्पराओं को जीवित रखने में स्त्रियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। ये परम्पराएं आज भी देखने को मिलती है। इसके साथ ही राज परिवार की स्त्रियों ने अपने निजी खर्चों में से भक्ति भावना से प्रेरित होकर मंदिर, मनोरंजन व जन साधारण वर्ग की भलाई के लिए बाग, कुएं, तालाब आदि का निर्माण करवाया था। सम्पन्न वर्ग की स्त्रियां भी इसी भांति परोपकार की भावना से अथवा निजी संतोष के कारण मंदिर, तालाब, बावड़ी आदि का निर्माण करवाती थी। सराय आदि बनवाकर, उनमें सदाव्रत चलाने के उदाहरण भी उच्च वर्ग की स्त्रियों के मिलते है।

इन सबके विपरीत आधुनिक युगीन नारी जीवन बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा, सती–प्रथा एवं दहेज–प्रथा जैसी कुरीतियों से अत्याधिक प्रभावित था। 19वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती आदि के द्वारा सती–प्रथा उन्मूलन के प्रयास किये गये थे, महात्मा फुले, हरविलास शारदा जैसे समाज सुधारकों ने नारी उत्थान के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किये थे। राजस्थान में यह प्रतिबन्ध लागू नहीं हो सका। अतः सती प्रथा के साथ सभी कुरीतियों को अंग्रेजी शासन कालीन समाज ने समाप्त करने का प्रयास किया। 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में इन कुरीतियों को हटाने के कानून बनाये गये, जिसका पालन कठोरता से करवाया जाने लगा।

पूर्व में किये गये कार्यों का मूल्यांकन

गुजरात एवं राजस्थान के सामाजिक इतिहास के विभिन्न पक्षों का वृहद विलक्षण महात्मा ज्योतिराव फुले गुजरात में दयानन्द सरस्वती और राजस्थान में हरविलास शारदा ने अपनी रचनाओं में किया है। महात्मा ज्योतिराव फुले कृत 'गुलामगीरी' दयानन्द सरस्वती रचित 'सत्यार्थ प्रकाश' पुस्तकों में एक समग्र समाज के दृष्टिकोण से विवरण किया गया है। उससे पूर्व कर्नल टॉड ने भी अपने यात्रा विवरण ''दी एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान'' मे राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक विवरण के साथ–साथ परम्पराओं व नारी की स्थिति पर प्रकाश डाला है। आधुनिक राजस्थान में डॉ. दशरथ शर्मा के ''राजस्थान थ्रू दी एजेज'' में समाज का समग्र विवरण ही मुखारित हुआ है।

विशेषतः स्त्रियों की स्थिति एवं समाज में उनका योगदान मध्यकाल में नगण्य ही माना जाता रहा है जबकि आधुनिक भारत में समाज की निरन्तरता व उसकी प्रगति में इस पक्ष का अध्ययन सर्वाधिक अपेक्षित है। इस ओर महाराष्ट्र में पहला कदम महात्मा ज्योतिराव फुले ''गुलामगीरी'' (1873), गुजरात में दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश (1874), राजस्थान में हरविलास शारदा वैदिक समाज और दयानन्द सरस्वती ने अपनी मूल रचनाओं को लिखकर जीवन के सभी पक्षों को छुआ। राजस्थान में नारी की स्थिति पर डॉ. शशि अरोड़ा ने ''राजस्थान में नारी की स्थिति 1600–1800 ई.'' का अध्ययन प्राथमिक स्रोतो, 'अभिलेखागारीय सामग्री' के आधार पर किया व जीवन के सभी पक्षों को छुआ। डॉ. वर्षा जोशी ने 'पोलीगेमी एण्ड पर्दा–वीमन सोसायटी अमंग राजपूत्स' में 13वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक जनानी ड्यौढ़ी की स्त्रियों के राजनीतिक प्रभाव में शासकीय घरानों के कार्यों का

मूल्यांकन किया है। डॉ. प्रतिभा जैन व संगीता शर्मा के कार्य ''ऑनर, स्टेस एण्ड पोलिटी'' में मेवाड़ राज्य को मूल बिन्दू में रखकर राजनीतिक वातावरण में आये उतार–चढ़ाव में नारी सम्मान व स्थिति कैसे बनी रही, इस विषय में लिखा है।

यह सभी प्रयास राजस्थान एवं सीमावर्ती गुजरात वृहद पृष्ठ भूमि को लेकर किये गये है। अतः अलग–अलग क्षेत्रों एवं क्षेत्रीय पृष्ठ भूमि में इस प्रकार के अध्ययनों की अपेक्षा है। चूंकि अभिलेखीय सामग्री इस प्रकार के अध्ययनों को लेकर प्रोत्साहित करती है। अतः उसी क्रम में गुजरात एवं राजस्थान के क्षेत्र को लेकर गहन प्रयास का प्रयत्न प्रस्तावित किया गया है।

इसी संदर्भ में गुजरात एवं राजस्थान में नारी की अहम् भूमिका पर कार्य अत्याधिक सम–सामयिक होगा जबकि वर्तमान में इस क्षेत्र में शोध कार्य राजनीति, प्रशासन, सामन्तवाद, शैलचित्र स्वतंत्रता संग्राम, आर्थिक इतिहास पर हो रहे है। क्षेत्र विशेष की नारी के जीवन के विविध पहलू जिसे शिक्षा, राजनीति एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जीया, का वर्णन अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति धर्म व समाज का विश्लेषण अपने शोध कार्य में प्रस्तावित है। साथ ही समाज सुधारकों के प्रयत्नों एवं प्रभावों का वृहद अध्ययन शोध कार्य की अपेक्षा है जिसे पूर्ण करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय द्वितीय

ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि
(गुजरात एवं राजस्थान के विशेष संदर्भ में)

अध्याय द्वितीय

ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि (गुजरात एवं राजस्थान के विशेष सन्दर्भ में)

छोटे–छोटे गाँवों में बसा भारत अंग्रेजों के आने से पूर्व कई अर्थो में आबाद था। युग व्यतीत होते गये साम्राज्य एवं व्यवस्थाएं परिवर्तित होती रही किन्तु गाँव नहीं बदले। वे अपने अर्थतंत्र में स्वयं थे। जरूरत की सभी वस्तुएं स्वयं ही पैदा कर लेते थे। गाँव की सामाजिक व्यवस्था पर धर्म का इतना जबरदस्त प्रभाव था कि उसकी सीमा लांघ कर आगे बढ़ने की बात कोई सोच नहीं सकता था।

सामाजिक जीवन पर धर्म गुरूओं का अविछिन्न अधिकार था। उनके द्वारा स्थापित मान्यताऐं और नियम लगभग अपरिवर्तनीय थे। धर्म की मान्यताओं के साथ यहां (हमारे समाज में) स्थित जाति व्यवस्था ने राजसत्ता से अधिक क्षेत्र घेर रखा था। जाति व्यवस्था को धर्म का संरक्षण था इसलिये एक ओर स्वधर्म निष्ठा बढ़ती गयी तो दूसरी ओर समाज निष्ठा कम होती गयी। लोगों की दृष्टि में अपना कुल और अपनी जाति–पांति ही सब कुछ थे। धर्म निष्ठा में भी अंधविश्वास और अज्ञान का अंश अधिक था। रूढ़ियाँ बलवती थी।[1]

सन् 1818 तक अंग्रेजों का सारे भारत पर अधिकार हो चुका था। महाराष्ट्र में पेशवा बाजीराव द्वितीय के शासन का अंत हो चुका था तथा गुजरात एवं राजस्थान में भी अंग्रेजों ने देशी राजाओं के साथ सन्धि कर अपना

प्रभुत्व जमा लिया था। 19वीं सदी के प्रथम चरण में यूरोप में फ्रांस की राज्य क्रांति हो चुकी थी। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के तत्वों ने लोकतन्त्र के सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इन तत्वों के कारण धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को एक अलग दिशा मिली। ऐहिक सुख, आर्थिक विकास, उपयुक्तता, बुद्धि प्रामाण्य इत्यादि मूल्यों का प्रभाव बढ़ा। धर्मोभिमान जितना महत्वपूर्ण है उतना ही देशाभिमान महत्वपूर्ण माना गया है।[2]

सन् 1760 से 1850 के मध्य इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति हुई। कल–कारखाने बढ़े। उत्पादन प्रक्रिया में यंत्रों का प्रयोग बढ़ा। लंकाशायर के कपड़े ने समस्त भारतीय बाजार पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों के राज के कारण सेठ–साहूकारों, सामन्तों की चांदी होने लगी। गरीब जनता करों के बोझ से दबने लगी। कमजोर वर्ग की स्थिति से पहले से अधिक दयनीय हो गयी। सामन्तशाही का शिकंजा कसने लगा। किसान त्राही–त्राही कर रहे थे। सर्वत्र अराजकता का वातावरण दृष्टिगोचर हो रहा था।[3]

शैक्षिक दृष्टि से भी भारत की स्थिति कुछ विशेष अच्छी नहीं थी। शिक्षा पर उच्च वर्ग का अधिकार था। उच्च वर्ग में भी स्त्री शिक्षा से वंचित थी। स्त्री चाहे किसी भी वर्ग की क्यों ना हो उसकी स्थिति असम्मानजनक ही थी।

समाज सपष्टतः दो वर्गों में विभक्त था; एक ब्राह्मणी प्रभुत्व वाला वर्ग जिसमें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के लोग तथा सामन्ती लोग शामिल थे। दूसरे वर्ग में चौथे वर्ण के शूद्रादि अतिशूद्र (दलित–पिछड़े) मजदूर, किसान आदि बहुजन समाज के लोग थे। दोनों वर्गों में किसी भी तरह का कोई सामंजस्य नहीं था। प्रथम वर्ग ने दूसरे वर्ग को शोषण करके अपनी सत्ता स्थापित कर रखी थी। ऐसी विषम परिस्थिति में जहां

महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले ने दलितों, शूद्रादि अतिशूद्रों व स्त्रियों की आजादी का बिगुल बजाया और अपना सम्पूर्ण जीवन इनकी मुक्ति में लगा दिया।[4] वहीं इसी दिशा में गुजरात एवं राजस्थान में नारी शिक्षा में उल्लेखनीय कार्य आर्य समाज के कार्यकर्ताओं ने अपने हाथ में लिया। राजस्थान में विभिन्न रियासतों के राजाओं ने नारी उत्थान में समाज सुधारकों को सहयोग दिया। उदयपुर में दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा एवं अजमेर में वाल्टरकृत राजपूत हितारिणी सभा, गंगानगर में डी.ए.वी. स्कूल, अजमेर में समाज सुधार हरबिलास शारदा के किये गये कार्य उल्लेखनीय हैं। ज्योतिबा फुले के समय में पद, जाति–पांति, छुआछूत और गुलामी का शिकंजा कमजोर वर्ग पर अधिक जोर से कसता गया। उन्हें अन्याय, अपमान, दमन, शोषण की चक्की में से पिसना पड़ा। लेकिन फुले अपने उद्देश्य से नहीं हटे।[5]

मराठा राज्य और पेशवाई शासन के समाप्त होते–होते महाराष्ट्र राजनैतिक परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक स्थिति में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आया। विशेषकर बाजीराव द्वितीय के शासन काल मे तो अनैतिकता, जातिवाद खुलकर सामने आए। ब्राह्मणों ने अपने प्रभुत्व की सिद्धी के लिए बाजीराव द्वितीय को कृष्ण और शिव का अवतार मान उसकी पूजा, अर्चना करना प्रारम्भ कर दिया।[6] बाजीराव भी अपने इन भक्तों से प्रसन्न थे। उसके शासन में जातिवाद तो इतनी चरम सीमा पर पहुंच गया था कि कुछ प्रभावशाली ब्राह्मण किसान नाममात्र का ही लगान देते थे और वे अपनी जाति तथा पेशवा से सम्बन्धों का अनुचित लाभ भी उठाते थे। अन्य राजकीय करों में भी उन्हें भारी छूट मिली हुई थी। अन्य जातियों के किसानों पर पेशवा भारी लगान लगाकर उनसे वसूली भी कड़ाई से करता था। ब्राह्मणों द्वारा समाज में किये गये

अपराधों पर उन्हें साधारण सजा और नाममात्र का आर्थिक दण्ड मिलता था जबकि उसी प्रकृति के अपराध करने वाले अन्य जातियों के लोगों को कठोर सजा मिलती थी व भारी जुर्माने भरने पड़ते थे। इस अन्याय से आम जनता पेशवाओं और ब्राह्मणों से बहुत ही असन्तुष्ट थी।[7] जो तत्कालीन स्थिति समाज में महाराष्ट्र में थी वही सामाजिक वातावरण गुजरात एवं राजस्थान में था यहां पर महिलाओं की स्थिति और भी अधिक दयनीय थी। समाज में निम्न वर्ग का जीवन बहुत ही खराब था। सर जदुनाथ सरकार इतिहासकार ऐसा भी लिखते हैं कि पेशवा की झूठी प्रशंसा करने वाले उसे ईश्वर के रूप में मानने वाले चालीस हजार ब्राह्मणों को पेशवा दरबार की ओर से नित्य भोजन दिया जाता था। पूना के आस–पास के क्षेत्रों में अकाल जैसी परिस्थितियों में जब एक ओर हजारों की संख्या में दीन हीन बेसहारा, किसान मजदूर लोग भूखों मर रहे थे तब दूसरी ओर पेशवा सम्पन्न पण्ड़ितों, वेद पाठियों और ब्राह्मण भिक्षुओं का भरपेट भोजन देता था या पर्याप्त मात्रा में अनाज का वितरण किया करता था। गरीब जनता की ओर पेशवा बिल्कुल ही ध्यान नहीं देता था बल्कि हमेशा चाटुकारों से घिरा हुआ वह केवल उनकी सुख सुविधाओं का ही ध्यान रखता था। मराठा किसान, मजदूर दस्तकार और आम जनता पेशवाई कुचक्र में बुरी तरह पिस रहे थे।[8] यही दशा गुजरात एवं राजस्थान में थी। यहां विभिन्न रियासतों के राजाओं सामन्त एवं साहूकार लोग आम जनता का शोषण कर रहे थे। निम्न वर्ग के पुरूष एवं महिलाओं इनके दास बने हुये थे।

निरन्तर अपने षडयन्त्रों के अन्तर्गत होने वाले युद्धों और विलासितापूर्ण जीवन के लिए पेशवा दरबार को सदैव धन की मांग बनी रहती थी। इस धन

पूर्ति के लिए पेशवा के कर्मचारी किसानों की फसलें जबरन लूट लिया करते थे।[9]

इतना ही नहीं वे किसानों के पशुओं को भी हांक कर ले जाते थे और उन्हें बेचकर धन अर्जित कर लेते थे या फिर उनको काटकर उनका मांस खा जाते थे। पेशवा का इतना आंतक था कि कोई भी किसान राज्य कर्मचारी या नीति के विरूद्ध आवाज तक नहीं उठा सकता था। किसानों से चौथ और सरदेशमुखी या जबरन धन वसूली एक आम बात हो गई थी। पेशवा का दूसरा गोद लिया भाई अमृतराव तो उत्याचार करने में जिस बर्बरता का व्यवहार करता था, वह अकथनीय है।[10]

उन्नीसवीं शताब्दी में जिस प्रकार सामाजिक स्थिति महाराष्ट्र एवं गुजरात में थी उसी के समानान्तर राजस्थान में थी। यहां अकाल, ग्रामीण–निर्धनता, विषम–लिंग अनुपात, अशिक्षा, बाल–विवाह, रूढ़िवादी परम्पराएं विचार व समाज की सामन्तवादी सरंचना के कारण महिलाओं को अत्यन्त कठोर परिश्रम व विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था।[11]

पेशवा के शासन में शूद्र और दलित वर्ग की स्थिति तो अत्यधिक दयनीय थी। उनकी सामाजिक स्थिति के विषय में महात्मा फुले ने अपने ग्रंथ 'गुलामगिरी' में लिखा है कि आज तक जितनी भी द्यींगामस्ती हुई है उसमें भीतर से कहा या बाहर से, ब्राह्मण, पण्डित, पुरोहित वर्ग के लोग अगुवाई नहीं कर रहे थे, ऐसा हो ही नहीं सकता। इस विद्रोह का पूरा नेतृत्व वे ही लोग कर रहे थे। देखिये, उमाजी रामोशी की द्यींगामस्ती में कालेपानी की सजा मांगने वाले घोड़ोपंत नाम के एक (ब्राह्मण) व्यक्ति का नाम आता है। उसी

प्रकार कल परसों के चपाती संग्राम में परदेशी ब्राह्मण पाण्डें, कोकंण का नाना (पेशवें), तांत्या टोपे आदि कई देशस्थ ब्राह्मणों के ही नाम मिलते हैं।[12]

उमाजी रामोशी महाराष्ट्र का एक शूद्र जाति में पैदा हुआ व्यक्ति था। वह बड़ा ही लड़ाकू था तथा उसने अंग्रेजों से भी मुकाबला किया था। लेकिन उमाजी नाइक रामोसी शूद्र जाति में पैदा हुआ था इसलिए उसको कोई शहीद नहीं मानता। लेकिन जो ब्राह्मण सही में डाकू थे और अंग्रेजों से लड़े उन्हें शहीद माना गया।[13]

उपर्युक्त कथन सिद्ध करता है कि पेशवाई शासन के दौरान गरीब शूद्रजातियों के देशभक्त नवयुवक यदि अपने देश के लिए लड़ते हुए अपनी जान भी देते थे तो भी ये पेशवाई ब्राह्मण उन्हें शहीद नहीं मानते थे। एक ओर जहां ये शूद्रजातियों के लोग अपनी जीविकोपार्जन सम्बन्धी तथा घरेलू समस्याओं से जूझते थे वहीं इनके कुलों में उमाजी रामोशी जैसे देशभक्त व्यक्ति भी जन्म लेते थे पर ये पेशवाई ब्राह्मण ऐसे देशभक्तों के किए कार्यों पर भी पानी फेरने में संकोच नहीं करते थे।[14]

दलित शूद्र वर्ग के लोग खेती मजदूरी करके कपड़ा बुनके छोटे–छोटे घरेलू धन्धे और दस्तकारी करके भी अपने परिवार को भरपेट भोजन, तन ढकने को सही ढंग के कपड़े तथा रहने की दो हाथ जगह व छत भी नहीं जुटा पाते थे। उनका जीवन गुलामों से बदतर हो गया था।[15]

वे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पेशवाई संरक्षण प्राप्त ब्राह्मणों, साहूकारों से कर्ज लेकर पूरा करते थे और जीवन–पर्यन्त उनके कर्ज और सूद

से मुक्त नहीं हो पाते थे। सम्पूर्ण मराठा समाज निराशा और जड़ता का जीवन व्यतीत कर रहा था। आमजन तो बिल्कुल दिशाहीन हो गया था।[16]

भ्रष्टाचार समाज में पूरी तरह व्याप्त हो चुका था। लोग सरकारी भूमि तक को पेशवा और उसके चाटुकार मराठा सरदारों के पास गिरवी रख देते थे। सन् 1818 में जब मराठा राज्य का पूर्ण रूप से पतन हो गया तो आम जनता में खुशी की लहर व्याप्त हुई, विशेष कर दलित और शूद्र वर्ग ने तों बहुत ही राहत महसूस की।[17]

1. सामाजिक जीवन :

भारतीय सामाजिक व्यवस्था की दो विशेष विशेषता थीं। पहली विशेषता यह थी की इसका धर्म से गहरा सम्बन्ध था तथा दूसरी यह व्यक्तियों की अपेक्षा समूहों का संश्लेषण थी। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक धार्मिक व्यवस्था थी क्योंकि सामाजिक संस्थाओं का आधार धार्मिक था और सामाजिक नियम धर्म द्वारा अनुमोदित थे।[18]

सामाजिक क्षेत्र में जाति–व्यवस्था, परिवार और विवाह की संस्था पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। ये प्रभुत्व सामाजिक संस्थायें वैयक्तिक न होकर सामूहिक प्रकृति की थी। प्राथमिक इकाई व्यक्ति न होकर परिवार था, जो अपने सदस्यों के सामूहिक प्रकृति के व्यवहार को नियंत्रित करता था। राज्य की जाति तथा परिवार के कार्यकर्ताओं से कोई सीधा संबंध नहीं था। वे धर्म निरपेक्ष कानून से शासित न होकर हिन्दू–विधि अथवा मुस्लिम विधि एवं रीति–रिवाज से नियंत्रित थे। ब्रिटिश सरकार ने भी इन दोनों संस्थाओं के प्रति अहस्तक्षेप की नीति को अपनाया परन्तु ग्रामीण

समुदाय के साथ ब्रिटिश सरकार का प्रत्यक्ष प्रशासनिक सम्पर्क हुआ जिससे ग्राम समुदाय का स्वशासी संस्था के रूप में विशिष्ट चरित्र नष्ट हो गया और वह सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था का अंग बन गया। परिवार और जाति व्यवस्थाओं में जो भी परिवर्तन आये वे प्रत्यक्षत सरकारी नीति का परिणाम न होकर समाजशास्त्रीय कारकों के परिणाम थे।[19]

महाराष्ट्र की तरह राजस्थान एवं गुजरात में भी समाज के स्वरूप का वही निरूपण परम्परा से चला आ रहा है जिसे वर्ण व्यवस्था कहते हैं। इसका आधार गुण और कर्म है। इसमें विचारकों को ब्राह्मण, योद्धाओं को क्षत्रिय, कृषक एवं व्यापारियों को वैश्य तथा घरेलू सहायकों को शूद्र की संज्ञा दी गई। यह वर्ण विभाजन पारस्परिक सम्बन्ध, खान–पान, विवाह आदि बंधनों से निर्धारित होता रहा और कर्म के अनुरूप वर्ण की पहचान होती रही। यह सामाजिक स्तरों का चातुर्वर्ण्य विभाजन प्राचीन काल से अद्यावधि किसी रूप में समाज का अनिवार्य अंग है। इतना अवश्य है कि वर्ण विभाजन आज केवल मात्र सांस्कृतिक एवं आदर्श स्थिति को ही परिलक्षित करता है और उतरोत्तर उसका महत्व घटता चला जा रहा है।

इस वर्ण व्यवस्था का व्यावहारिक रूप जाति व्यवस्था से जुड़ गया है। आज भी खान–पान तथा विवाह के बंधन तो ढीले हो चले हैं पर जाति विशेष से सामाजिक व्यक्ति की पहचान अवश्य की जाती है। जो इसकी जटिलता थी वह आज लचीलेपन में परिणित हो गई। आज के युग में पारस्परिक खान–पान या विवाह खुल कर होने लगे हैं क्योंकि विदेशी सम्पर्क, मिलने–जुलने की सुविधा और प्राच्य विद्या के प्रसार से स्वजाति निर्धारण और अनुशासन की सीमाओं को लांघने में बड़ा योग दिया है। फिर भी स्वीकार

करना होगा कि वर्ण और जाति व्यवस्था में अधिकांश लोग विश्वास रखते हैं जिसकी धुरी पर जन विश्वास, रीति–रिवाज, परम्पराएं, आदर्श भाषाएं, मत–मतान्तर तथा सांस्कृतिक मूल्य अक्षुण्ण बने हुए है। ये सभी तत्व इस प्रदेश की अन्तर्तम भावनाओं को सिंचित करने तथा प्राणवान बनाने में सक्षम हैं। यही कारण है कि वर्ण–व्यवस्था का सांस्कृतिक पहलू तथा जातिगत जीवन एक दूसरे पर आश्रित बन कर अद्यावधि जीवित है। एक जाति विशेष के हाथ में कोई शिल्प या व्यवसाय बना रहने से उनकी कुशलता उत्तरोतर बढ़ती चली गई। अपने वर्ण या जाति के दायरे में रहने से उसका सदस्य अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक तथा अपने देश की प्रतिष्ठा के लिए निष्ठावान रहता है जो इन संस्थाओं का नैतिक और सांस्कृतिक पक्ष है। लेकिन आधुनिक समाज में कोई बंधन नहीं है कि, अमुक व्यवसाय अमुक जाति के सदस्य ही उसे अपनी बपौती बनाये रखें। कोई भी व्यक्ति किसी शिल्प को या व्यवसाय को अपना सकता है और वह भी संभव है कि इतर जाति का सदस्य निर्धारित व्यवसाय से सदियों से जुड़े हुए व्यक्ति से अधिक कुशल और योग्य साबित हो सकता है। आज का समाज लम्बरूप से चेष्टा द्वारा तथा समानान्तर पद्धति से आगे बढ़ने के द्वारा उन्नति करने के लिए स्वतंत्र है। प्राचीन काल में या मध्यकाल में ऐसे उदाहरण जाति व्यवस्था में इतने नहीं थे पर आज के समय ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। यह सच है कि जटिल बन्धनों के अभाव में ही समाज विकास कर सकता है, परन्तु यह भी सच है कि समाज संगठन के नैतिक और सांस्कृतिक पहलू आज भी अपने स्थान में महत्व रखते है।[20]

2. सामन्त व्यवस्था :

सामाजिक व्यवस्था के साथ–साथ एक महत्वपूर्ण व्यवस्था जो सदियों से राजस्थान में चली आ रही थी वह सामन्त व्यवस्था है। कर्नल टॉड ने इस

व्यवस्था की तुलना मध्ययुगीय यूरोपीय सामन्त पद्धति से की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहां की सामन्त पद्धति और यूरोप की सामन्त प्रणाली में कई समस्याएं है, परन्तु राजस्थानी सामन्त प्रथा एक प्रकार का सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप है जिसमें नेता के रूप में नरेश होता है और उसके साथ उसी के वंशज या अन्य राजपूत वर्ग के वंशज उसके साथी और सहयोगी बने रहते हैं। यूरोप में एक स्वामी के साथी उसके आश्रित के रूप में रहते थे जिनकी कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं थी। यहां एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष राजपूत वंश के होने से राज्य के बराबरी के हिस्सेदार होते थे। उनके पोषण के लिए कुछ भूमि दे दी जाती थी और उसका उस पर जन्मजात अधिकार होता था। पूर्व मध्यकालीन साहित्य या दस्तावेजों में सामन्तों के लिए जो व्याख्या मिलती है वह कर्नल टॉड द्वारा प्रतिपादित सामन्त प्रथा, जो यूरोप के समकक्ष बताई गई है, से मेल नहीं खाती। कर्नल टॉड ने जिस समय इस प्रथा को राजस्थान में देखा था उस समय राजस्थान के सामन्तों की स्थिति निर्बल होने लगी भी ओर धीरे–धीरे उनकी स्थिति केवल एक आश्रित के रूप में होती चली जा रही थी अन्यथा राजस्थानी नरेश सिद्धान्ततः अपने सामन्तों को भाईजी और काकाजी आदि के आदरसूचक शब्दों से सम्बोधित करते थे।[21]

संक्षेप में कह सकते हैं कि उन्नीसवीं सदी की सम्पूर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि यह दर्शाती है कि इस सदी का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही भारतीय राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में बड़ा ही उथल–पुथल का समय रहा है। इस सम्पूर्ण उठा–पटक का केन्द्र स्थल महाराष्ट्र प्रान्त रहा। पतनोन्मुख मराठा शक्ति का प्रतीक अन्तिम पेशवा

बाजीराव द्वितीय (सन् 1796–1818) एक अयोग्य और चरित्रहीन शासक सिद्ध हुआ उसके शासन काल में भारत की सामाजिक दशा पूर्णतः विघटन के कगार पर पहुंच गयी थी। शूद्रातिशूद्र बहुजन समुदाय तथा नारियाँ मानव–अधिकारों से वंचित भी थे। अस्पृश्यता शूद्रो के लिये मानवीय अभिशाप बन गयी थी। सामाजिक और एवं नैतिक चरित्र की उन्नति के लिये आवश्यक तत्व शिक्षा का उनके लिये निषेध था। नारियों की स्थिति तो पूर्णतया दयनीय थी। सम्पूर्ण भारत विशेषकर महाराष्ट्र, गुजरात एवं राजस्थान सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों प्रबल जातीय भेदभाव, अमानवीय सामाजिक असमानता अस्पृश्यता के कलंक तथा सामाजिक मूल्यों के पतन से ग्रसित था।[22]

3. सामाजिक विसंगतियाँ :

राजकुलों, सामन्तों, अधिकारी वर्ग और सम्पन्न परिवारों का जीवन सुखमय या और जीवनयापन की सभी सुविधाएँ उनके लिए उपलब्ध थी। इस वर्ग के पुरूष साटन व मखमल के वस्त्र, कई प्रकार के कामवाली अँगरखियाँ, आभूषणों से सुसज्जित पगड़ियां आदि उत्सवों के अक्सर पर पहिनते थे। इस वर्ग की स्त्रियां भी आभूषणों और गोटे–किनारे के बहुमूल्य वस्त्रों से सजती थी परन्तु साधारण स्तर और गरीब तबके का व्यक्ति साधारण लिबास से सन्तोष कर लेते थे। ब्राह्मण का एक सीमित वर्ग, पठन–पाठन करता था परन्तु अधिकांश इनमें गरीब थे। व्यापारी वर्ग अवश्य सम्पन्न था। दास और दासियों का जीवन उच्च वर्ग की सेवा में व्यतीत होता था। विवाह के अवसर पर दास–दासियों के देने का प्रचलन था। कसाई, चमार, बलाई, रैगर, भंगी, भांभी आदि अछूत समझे जाते थे। जिनके रहन–सहन का स्तर निम्न होता था।

भील, मीणा आदि जंगली जाति जंगल से घास–फूस या लकड़ी आदि वस्तुओं को एकत्रित कर अपना जीवन निर्वाह करते थे।[23]

4. चेतना – प्रसार युग :

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में एक नये युग का प्रारम्भ हो गया था। क्योंकि सन् 1827 तक सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों ने अपना अधिकार कर लिया था केवल पंजाब प्रान्त ही इसका अपवाद रहा।[23]

सन् 1828 में 16 मार्च को अंग्रेज सरकार का प्रतिनिधि लार्ड विलियम बेंटिंग भारत आया, उसने राज्य विस्तार की अपेक्षा जनोपयोगी कार्यों की ओर अधिक ध्यान दिया। इसलिए इस युग को यदि चेतना–प्रसार का युग कहें तो ज्यादा उत्तम है। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में फ्रांस की राज्य क्रांति हो चुकी थी और सम्पूर्ण यूरोप में इस क्रांति के कारण एक नयी विचार धारा प्रवाहित हो चुकी थी। समता, स्वतंत्रता और बधुत्व वाले विचारों ने लोकतन्त्र में इन तत्वों के समावेश से धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को एक नयी दिशा मिली। इंग्लैण्ड में एंडमड बर्ग, एडम स्मिथ, जॉन स्टूअर्ट मिल जैसे अनेक विचारकों ने अपने आधुनिक मानवतावादी विचारों से समाज में एक नयी जागृति पैदा की। आर्थिक विकास, एहिक सुख, बुद्धी प्रामाण्य इत्यादि मूल्यों का प्रभाव बढा। लोगों में यह चेतना जागृत हुई कि धर्माभिमान जीवन के लिए जितना महत्वपूर्ण देशाभिमान भी है और देश से तात्पर्य केवल अपने आस–पास तक एक संकुचित और सीमित क्षेत्र ही नहीं है।[24] बल्कि हिमाचल तक फैली हुई जनता तक है। अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा का युग समाप्त होकर एक नये बुद्धि प्रमाण्यवादी युग का श्रीगणेश हो चुका था।

भारतीय उद्योग, व्यापार दोनों ही इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति से प्रभावित हुए। उत्पादन क्रिया में यंत्रों का उपयोग बढा। भारतीय कपास, खासकर महाराष्ट्र के खानदेश, बरहाड़ से इंग्लैण्ड के लंकाशायर के लिये निर्यात होने लगी। इस कपास से बने कपड़ों ने भारतीय बाजार विदेशी वस्तुओं से भर गया। लार्ड डलहौजी द्वारा किये गये सुधारों के अन्तर्गत यातायात के साधनों में वृद्धि होने लगी। दूर संचार की स्थापना हुई रेलवे लाइने बिछने व मार्ग बनने प्रारम्भ हुए, बैंक आदि भी खुले। विदेशों से व्यापार का शुभारम्भ हुआ जल यातायात बढ़ा। इन सब सुधारों का परिणाम यह हुआ कि भारतीय लोगों का विविध स्तरों पर देश के आन्तरिक व बाह्य क्षेत्रों में सम्पर्क बढ़ने लगा। विचारों के आदान–प्रदान को एकगति मिली और एक नई प्रकाश की किरण भारतीय सामाजिक, आर्थिक क्षितीज पर उदित हुई। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ।[25]

राजा राममोहन राय, महात्मा फुले, स्वामी दयानन्द सरस्वती श्रीमती एनीबीसेन्ट, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, गुरूदेव रविन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसी महान विभूतियों ने एक नई चेतना शक्ति भर दी जिसमें भारतीयों को अपनी सभ्यता की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ और उन्होंने न केवल भारतीय सांस्कृतिक विरासत को बनाये रखा अपितु भारत के राजनैतिक आन्दोलन को भी जीवन प्रदान किया।[26]

पाश्चात्य प्रभाव ने भी हमारे जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर हुमांयू कबीर ने लिखा है कि ''चपल यूरोपीय भावनाओं ने प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्म परीक्षा की। एक ओर तो भौतिक जीवन की

अवस्थाओं में परिवर्तन हो गया और दूसरी और विश्वासों और परम्पराओं के आधार को नष्ट कर दिया।''[27]

ब्रिटिश शासन स्थापित होने के समय तक भारतीय समाज की दशा, त्याग प्रथा, दहेज प्रथा, दास प्रथा, डाकन प्रथा, भ्रूण हत्या एवं बाल विवाह जैसी घातक और अस्पृश्यता तथा जातिभेद जैसी हानिप्रद कुरीतियाँ भारतीय समाज में प्रचलित थी जो इस देश के पतन का मुख्य कारण बनी हुई थी लेकिन पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का भारतीय सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य नवीन विचारधारा एवं शिक्षा के कारण भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन होने शुरू हो गये। लोगों में आत्म–विश्वास जागृत हुआ। अंग्रेजी पढ़े–लिखे लोगों में सामाजिक और धार्मिक सुधारों की इच्छा जागृत हुई। सन् 1885 ई. में जब देश की राजनैतिक दशा सुधारने के लिये कांग्रेस की स्थापना हुई उस समय भी यह अनुभव किया गया कि देश की सामाजिक दशा सुधारने के लिये भी प्रयत्न करना आवश्यक है।

अतः सन् 1888 से कांग्रेस की प्रतिवर्ष होने वाली बैठक के साथ राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद के सर्वे–सर्वा महादेव गोविन्द रानाडे थे। इसके प्रतिवर्ष होने वाले अधिवेशनों से स्त्रीशिक्षा के प्रसार, बाल विवाह, पर्दा प्रथा का विरोध विधवाओं तथा अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने, अन्तर्जातीय खान–पान और विवाहों को प्रोत्साहन आदि के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये जाते थे।[28] सन् 1890 में सामाजिक सुधारों का प्रबल समर्थक इण्डियन सोशल रिफार्मर नामक साप्ताहिक पत्र निकाला सन् 1887 में बम्बई तथा मद्रास में समाज सुधार के प्रान्तीय संगठन बनें।[29]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में युगान्तकारी परिवर्तनों का सूत्रपात हुआ लेकिन यह तब सम्भव हुआ जब भारतीयों ने ज्ञान और प्रकाश के लिये पश्चिम की ओर देखा पाशचात्य शिक्षा और विचारधारा से प्रभावित भारतीयों ने देश में सर्वांगीण सुधार की ज्योति प्रज्वलित की। अंधविश्वास और अंधश्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ग्रहण करने लगे, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की बेड़ियों के बन्धन टूटने लगे। कुरीतियाँ समाप्त होने लगीं, जाति भेद का दुर्ग धराशायी हुआ, अस्पृश्यता का जनाजा निकलने की स्थिति बनी। पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों और यन्त्रों के गृहण से भारतीय भौतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में आमूल–चूल परिवर्तन प्रारम्भ हो गये।[30]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. मु.ब. शाह – भारतीय समाज क्रांति के जनक महात्मा फुले, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ.सं. 13
2. डॉ. जी.एन. शर्मा – राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, जयपुर, 2009, पृ.सं. 116
3. चाइल्ड मैरिज रैस्ट रैण्ट एक्ट, 1929 (शारदा एक्ट)
4. डॉ. एम. सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1983, पृ.सं. 119
5. योगमाया, ज्योतिबा फुले दर्शन एवं चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2004, पृ.सं. 20
6. हिमायती, पाक्षिक पत्र, फरवरी 2000, बम्बई
7. कन्हैयालाल चंचरिक, महात्मा ज्योतिबा राव फुले, विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली, 1888, पृ.सं. 16
8. प्रभात कुमार स्वामी – समाज सुधार में महात्मा ज्योतिबा फुले का योगदान, हिन्दी ग्रंथागर, जोधपुर, 2007, पृ.सं. 20
9. एच.आर. एकवर्थ एण्ड टी.एम. सालिगराम, पावडाज और हिस्टोरिक बैलड्रस ऑफ दि मराठाज, पृ.सं. 186
10. महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली भाग–1 (अनुवादक विमलकीर्ति) राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, 1994, पृ.सं. 195
11. शैलेन्द्र मौर्य – राजस्थान में महिला विकास प्रारम्भ से आज तक, राजस्थान साहित्य संस्थान, जोधपुर, 2007, पृ.सं. 27

12. एम.जी. माली – क्रांति सावित्री बाई फुले प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1996, पृ.सं. 27

13. फुले रचनावली, भाग–1, पृ.सं. 195

14. श्रीपाद जोशी – महाराष्ट्र के समाज सुधारक, महाराष्ट्र भाषा सभा, पूणे, 1996, पृ.सं. 20

15. जी.एस.एल. देवडा – राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था 1574–1818) बीकानेर के विशेष संदर्भ में, बीकानेर, 1981

16. शेतक यांचा असूड (1883)

17. जगदीश नारायण सिन्हा – धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन कार्यक्षेत्र, स्वरूप और प्रभाव, दिल्ली विश्व विद्यालय, 1990, पृ.सं. 230

18. एम. सी. कोटनला – राजा राममोहन राय एण्ड इण्डिया अवेकनिक, पृ. सं. 29

19. दयानन्द सरस्वती – ''सत्यार्थ प्रकाश'' वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1983

20. जी.एन. शर्मा – सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, ग्रंथ भारती, जयपुर, 1990, पृ.सं. 107, 108

21. कर्नल जेम्स टॉड – (सम्पादक जी.एन. शर्मा) एनाल्स एण्ड एण्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान, पृ.सं. 108–132

22. ए.आर. देसाई – सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशलिज्म, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1948, पृ.सं. 138

23. वी.पी. वर्मा – आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1975, पृ.सं. 45

24. इन्दु अग्निहोत्री – 1857 के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव, NCERT, दिल्ली, 1988, पृ.सं. 66

25. सच्चिदानन्द भट्टाचार्य – भारतीय इतिहास कोश हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, 1975, पृ.सं. 52

26. रोमिला थापर – भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ.सं. 69

27. ताराचन्द – हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया वॉल्यूम–2, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1967, पृ.सं. 172

28. आर. सी. मजूमदार – ब्रिटीश पैरामाउण्टेसी एण्ड इण्डियन रिनेशां, भाग–2, पृ.सं. 256–257

29. डॉ. शशि अरोड़ा – राजस्थान में नारी की स्थिति, 1600–1800 ई., बीकानेर, 1981, पृ.सं. 21

30. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा – इवोल्यूशन ऑफ एन्टागोनिस्टिक रिचुएलस् इन प्री–मॉडर्न सोसायटीज ऑफ एशिया, ए केस स्टडी ऑफ साका एण्ड जौहर, दिनांक 29 सितम्बर से 2 अक्टूबर, 2008 तक हीडिलबर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध पत्र।

अध्याय तृतीय

महात्मा ज्योतिबा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों का जीवन परिचय

(गुजरात एवं राजस्थान के विशेष संदर्भ में)

अध्याय तृतीय

महात्मा ज्योतिराव फुले एवं अन्य समाज सुधारकों का जीवन परिचय गुजरात एवं राजस्थान के सन्दर्भ में

महाराष्ट्र के सन्तों में सावंता माली का नाम काफी प्रसिद्ध है। वे पण्ठरपुर (दक्षिण की काशी) के निवासी थे और भगवान विठोवा के परमभक्त थे तथा नामदेव (ई. सन् 1270–1338) के समकालीन थे। इन्हीं सावंता माली के वंशजो में हमारे चरित्र नायक महात्मा ज्योतिराव फुले पैदा हुए। इनके पूर्वजों का मुख्य व्यवसाय खेती करना था। ज्योतिबा के परदादा कटगुण के ''चौगुला'' (सहायक) थे।[1]

उस समय हर गाँव के दो मुख्य अधिकारी हुआ करते थे। 'पाटिल' और 'कुलकर्णी' जिन्हें चौधरी और पटवारी कहा जाता था। इन दोनो के अधीन 'चौगुला' (सहायक) हुआ करता था जो इन अधिकारियों के रजिस्टरों, पुस्तकों आदि को लाने और ले जाने व लगान वसूली करने और फसल–कटाई के दिनों में फसलों का निरीक्षण करने में सहायता करता था। एक समय कटगुण के कुलकर्णी से उनकी अनबन हो गयी जिसके कारण वे गाँव छोड़कर कटगुण से पुणे जिला के खानबाड़ी गाँव में और फिर वहां से पुणे नगर में आ बसे। इससे प्रतीत होता है कि वे आरम्भ से ही स्वाभिमान और स्वतंत्र प्रकृति के पुरूष थे।[2]

ज्योतिबा राव के दादा शेंटिबा बड़े खर्चीले थे जिसके कारण वे शीघ्र ही निर्धन हो गये। उनके तीन पुत्र राणोजी, कृष्ण और गोविन्द थे। तीनों पुत्र बड़े ही मेहनती व अपनी धुन के पक्के एवं कार्य–कुशल थे। अपने पिता की निर्धन

अवस्था के कारण इन तीनों पुत्रों को बचपन से ही रोजी रोटी कमाने के लिये जुझना पड़ा। आरम्भ में वे एक महाजन के यहां भेड़ बकरियों की रखवाली का काम करने लगे और थोड़ा बड़े हो जाने के उपरान्त महाजन ने उन्हें अपने फूलों के व्यवसाय में रख लिया।[3]

माली होने के कारण उन्होंने व्यवसाय से सम्बन्धित सभी बारीकियाँ सीखीं और कुछ दिनों में ही वे उस कार्य में निपुण हो गये। फूलों से सम्बन्धित सभी कार्यों से उनका नाम चारों और फैलने लगा। फल, फूल उत्पादन में उनकी कार्य कुशलता की प्रसिद्धि की भनक जब पुणे के पेशवाओं तक पहुँची तो उन्होंने इनको शीघ्र ही राजकीय उद्यान में नियुक्त कर दिया। इनकी कार्य कुशलता से प्रसन्न होकर पेशवाओं ने इन्हें पार्वती पहाड़ी के पास 35 एकड़ भूमि पुरस्कार स्वरूप इनाम में दे दी और इन्हें फुले नाम से सम्बोधित करने लगे इसके पहले वे चौहान (च्वाहण) गौत्र के उप गौत्र (गो–हे) के नाम से पुकारे जाते थे। अब वे गो–हे के स्थान पर फुले कहलाने लगे।[4]

गोविन्दराव का विवाह धनकबड़ी गाँव के झगड़े पाटील की पुत्री चिमणा बाई से हुआ। (मराठी भाषा में बाई शब्द का प्रयोग हिन्दी शब्द 'देवी के अर्थ में किया जाता है) गोविदराव जी के दो पुत्र हुए जिनमें एक का नाम राजाराम और दूसरे का नाम ज्योतिबा फुले रखा गया। यहीं ज्योतिबा हमारे नायक महात्मा ज्योतिबा फुले है। जोति का अर्थ होता है ज्योति अर्थात् प्रकाश।[5]

1. ज्योतिबा का जन्म :

ज्योतिबा का जन्म इतिहासविद् श्री जगदीश सिंह गहलोत की पुस्तक 'इतिहास की प्रसिद्ध घटनायें' के अनुसार वि. संवत 1884 की चैत्र शुक्ला 15 (ई. सन् 1827 की 11 अप्रेल) बुधवार को पुणे में हुआ।[6]

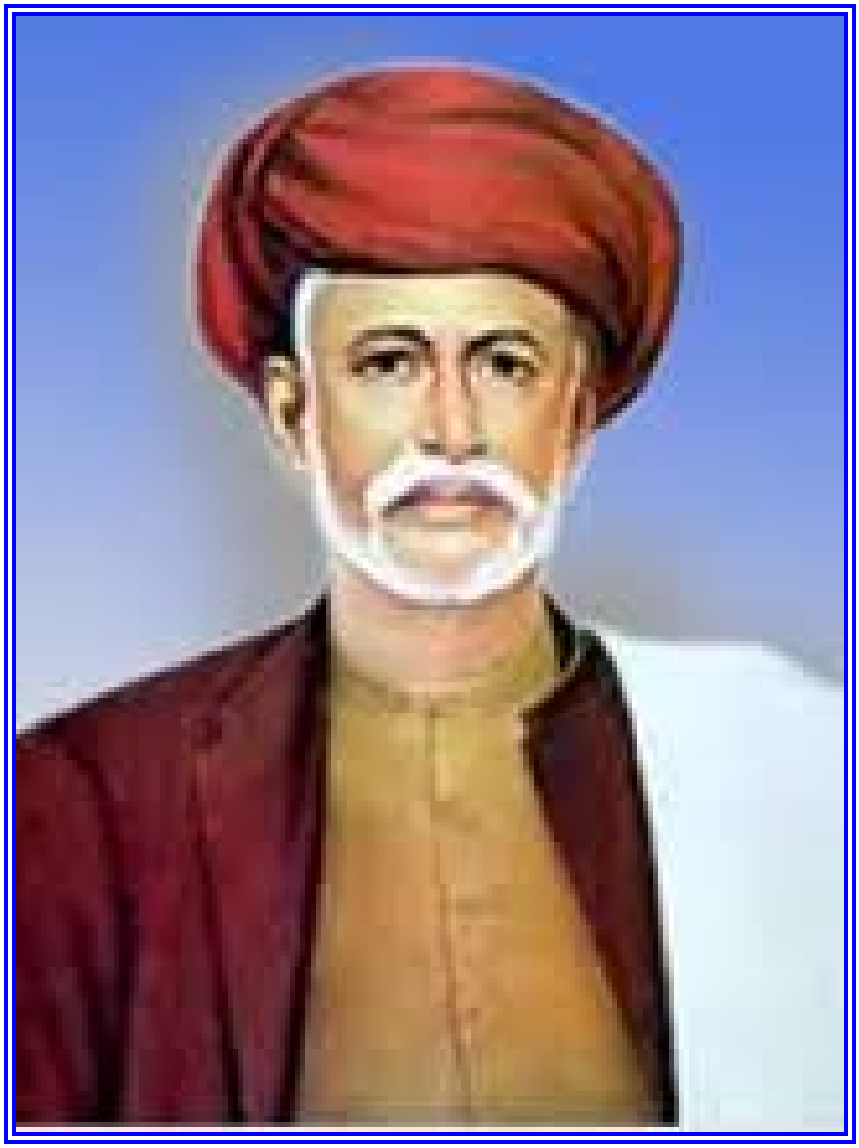

ज्योतिबा फुले

अधिकतर पुस्तकों में उनका जन्म केवल सन् 1827 में लिखा मिलता है, लेकिन यही तिथि भारतीय पंचाग के अनसार चैत्र शुक्ल 15 वि. संवत् 1884 (शक संवत 1749) ही है। सुप्रसिद्ध जीवनी लेखक धनंजय कीर ने उन्हें क्षत्रीयमाली लिखा है।[7] और जगदीश सिंह गहलोत ने उन्हें चौहान गौत्र का बतलाया है।[8]

ज्योतिबा जब एक वर्ष के ही थे तभी उनकी माता चिमणा–बाई का देहान्त हो गया। चिमणाबाई बड़ी ही पतिव्रता तथा धर्म–परायण महिला थीं। गोविन्दराव को पत्नी के निधन से हार्दिक आघात लगा। उन्होंने दूसरा विवाह न कर, अपने अबोध पुत्र ज्योतिबा के लिए एक धाय रख ली जिसने बड़े ही लाड़ प्यार से ज्योतिबा का लालन–पालन किया। मुरलीधर जगताप ने उस धाय को ज्योतिबा की मौसेरी बहिन श्रीमती सगुणा बाई क्षीरसागर बतलाया है जो बाल विधवा थी। उसने बड़ी ममता और अपनेपन से ज्योतिबा का पालन किया और उन्हें माँ की कमी महसूस नहीं होने दी।[9]

ज्योतिबा जब छह वर्ष के हुए तब वे बहुत ही सुन्दर व मजबूत डीलडौल वाले दिखाई देने लगे। गोविन्दराव को उन्हें देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय निम्न जाति के लोगों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। स्वयं गोविन्दराव भी पढ़े–लिखे नहीं थे। लेकिन उन्होंने अपने इस पुत्र को शिक्षित करने का मानस बना लिया था। उस युग में पाठशालायें निजी होती थी और उनमें उच्च जातियों के लड़के ही बड़ी संख्या में पढ़ते थे। इन स्कूलों में संस्कृत, व्याकरण, न्यायशास्त्र, वैधक, वेदान्त ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि विषय ही पढ़ाये जाते थे।[10]

तब ऐसी शिक्षा का अधिकार निम्न जाति वर्ग वालों को नहीं था। अतः निम्न वर्ग के बालकों को कोई शिक्षा नहीं दी जाती थी। ऐसी परिस्थितियों में ज्योतिबा को पाठशाला भेजना एक बड़ी समस्या थी। कुछ कट्टर–पंथियों ने सरकारी शिक्षा विभाग से यह संकल्प तक पारित करवा लिया कि शिक्षा परिषद की पाठशालाओं में यदि निम्न जाति वर्ग के बच्चे पढ़ते भी हैं तो उन्हें पाठशालाओं से निकाल दिया जावे।[11]

2. बाल्यकाल और शिक्षा :

ज्योतिबा निर्धनता और अभावों की छाया तले ज्यों–ज्यों पल–बढ़ रहे थे। अब तक पेशवाओं की पेशवाई अंग्रेजों के द्वारा समाप्त कर दी गयी थी। और सत्ता अंग्रेजों के हाथों में आ चुकी थी। सत्ता परिवर्तन का प्रभाव राज्य के मंत्रियों, सामन्तों और उच्च वर्ग के लोगों पर कुछ भी नहीं पड़ा जबकि आम जनता में त्राही–त्राही मची हुई थी। करो की मार निर्धन और कृषक वर्ग पर अधिक पड़ी थी जबकि धनिक वर्ग भारी कर चुकाने के बाद भी मौज–मस्ती का जीवन बिता रहा था।[12]

उस समय अशिक्षा ही दलित किसान की सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक दुर्दशा का मूल कारण थी। अविद्या ही किसान के दुखः दारिद्रय एवं दीनता का मूल कारण थी।[13]

सत्ता परिवर्तन में राज्य के सर्वोच्च पेशवा पद पर अंग्रेज अधिकारी स्थापित हो चुके थे, जबकि उनके अधीन बहुत सारे पदों पर अभी भी देशी अधिकारी ही नियुक्त थे। इस प्रकार इस व्यवस्था में भी सामान्य स्तर पर तो

कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था किन्तु व्यवस्थापक का पद अवश्य बदल गया था।

अंग्रेजी व्यवस्था के अनुसार समाज के सभी वर्गों को शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार मिल गया था। समाज में पहले शिक्षा के केन्द्र ब्राह्मण और पुरोहित वर्ग के लोगों के अधिकार में होते थे। इन शिक्षणालयों में ब्राह्मण–पुरोहित अपने–अपने ढंग से पठन–पाठन किया करते थे। इन शिक्षा केन्द्रों मे शूद्र वर्ग के बालकों को प्रवेश पूर्णतया वर्जित किया जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग के बालकों को एक ही केन्द्र में शिक्षा प्रदान करते थे।

अब अंग्रेजों की नई व्यवस्था ने शूद्र वर्ग के बालकों के लिए भी शिक्षा प्राप्त करने का मार्ग खोल दिया था इसके साथ ही अंग्रेजों ने कुछ सार्वजनिक विद्यालय भी शुरू कर दिये थे।[14] अंग्रेजों का शासन कब तक चले यह निश्चित नहीं है, इसलिए शूद्रादि अतिशूद्रों को आजादी समानता, भाईचारे की लड़ाई के लिए शिक्षित होना चाहिए।[15] ऐसा विचार पनपने लग गया था।

इस समय तक ज्योतिबा सात वर्ष की आयु के हो गये थे। वे उच्च वर्ग के बालकों को पढ़ने के लिए विद्यालय की ओर जाते देखते तो उनका मन भी पढ़ने जाने के लिए लालायित हो उठता। अपने पिता से ज्योतिबा ने अनेक बार स्कूल जाने का आग्रह किया किन्तु वे हर बार बालक के इस आग्रह को सुना–अनुसुना कर देते थे। वे बालक ज्योतिबा के स्कूल जाने की जिद को महज पागलपन ही मानते थे। वे ऐसा मानते थे कि उनके परिवार में आज तक कभी कोई स्कूल नहीं गया था फिर भला ज्योतिबा को वे कैसे स्कूल भेजते।[16]

ईसाई मिशनरियों के स्कूल जाने के लाभ समझाने और बालक ज्योतिबा के बार–बार पढ़ने जाने की जिद्द ने गोविन्दराव को सोचने के लिए विवश कर दिया। अंततः एक दिन उन्होंने बालक ज्योतिबा का एक सरकारी स्कूल में प्रवेश दिलवा दिया। ज्योतिबा बड़े शौक और लगन के साथ मराठी में पढ़ने जाने लगे। वे बड़ी कुशाग्र बुद्धि के बालक थे। स्कूल के अध्यापक उनकी तीव्र बुद्धि के प्रशंसक थे।[17]

कुछ सवर्ण वर्ग के लोगों ने तो यहां तक प्रलाप किया कि अब शीघ्र ही धर्म का नाश हो जाएगा और पृथ्वी रसातल में गर्क हो जाएगी क्योंकि शूद्रों ने ब्राह्मण कर्म में प्रवेश करने का पापपूर्ण कार्य जो आरम्भ कर दिया है।[18]

ज्योतिबा के पिता गोविन्दराव को इन लोगों ने तरह–तरह से समझाना और धमकाना शुरू कर दिया कि यह कार्य ठीक नहीं है जो ज्योतिबा शिक्षार्जन करके ब्राह्मण कर्म को दूषित कर रहा है। इन अनर्गल प्रलापों का परिणाम यह निकला कि ज्योतिबा को कुछ ही समय के बाद उनके पिता ने स्कूल से हटा लिया, बालक ज्योतिबा करते भी तो क्या ? वे पिता की सहमति के बिना कुछ नही कर सकते थे और उनके पिता कुछ अनर्गल प्रलापियों के बहकावे में आ गए थे। अतः विवशतावश उन्हें स्कूल छोड़ना ही पड़ा।

अब ज्योतिबा पढ़ाई छोड़कर अपने पिता गोविन्दराव के साथ खेतों में काम करने लगे। पढ़ाई छोड़ने पर उनका हृदय खून के आंसू रो रहा था।[19] इस प्रकार ज्योतिबा दिन भर खेतों व उद्यानों में काम करने लगे। गोविन्दराव सन्तुष्ट हो गये लेकिन ज्योतिबा दिन भर खेतों में काम करके भी रात को घर आकर पढ़ाई करते। वे रात में दीपक की रोशनी में पुस्तकें पढ़ते रहते। यह देखकर ज्योतिबा के दो पड़ौसी विद्वानों, उर्दू फारसी के ज्ञाता गफ्फार बेग और

पादरी लिजीट साहब ने गोविन्दराव को समझाया कि ''ज्योतिबा एक मेधावी बालक है और उसकी तर्क–पटु बुद्धि भी लोगों को प्रभावित करने वाली है इसलिए आप उसको पढाये। पढने–लिखने से कोई व्यक्ति धर्मविरोधी नहीं होता है और अपने धर्म का परिवर्तन करता है। यदि पढ़–लिखकर कोई धर्म परिवर्तन करता है तो ब्राह्मण लोगों के जो बच्चे पढ़ते है वे ईसाई न बन जाते। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। सही बात यह है कि ब्राह्मणों का निहित स्वार्थ है जिसके कारण वे अन्य जातियों वाले बच्चों को पढ़ने से रोक रहे हैं। आप भी सभी बातों पर सोचिये और अपने पुत्र को स्कूल में पढ़ने के लिए भेजिए।'' गोविन्दराव ने उनकी बातों पर काफी मनन किया और यह महसूस किया कि उन्होंने अपने पुत्र की पढ़ाई रोककर उसके तीन वर्ष व्यर्थ में बर्बाद कर दिये। उसके बाद गोविन्दराव जी ने सन् 1841 में ज्योतिबा को स्कॉटिश मिशन अंग्रेजी स्कूल में भर्ती करा दिया।[20]

इस स्कूल में ऊँची जातियों के लड़के ज्योतिबा के सम्पर्क में कम ही आये लेकिन मुसलमान लड़के काफी मित्र बन गये। इनसे हिन्दू धर्म की आलोचना सुनकर ज्योतिबा को हिन्दू धर्म में विद्यमान ऊँच–नीच की भावनाओं तथा धर्माचरण में निहित स्वार्थो का ज्ञान हुआ। उन्होंने अपने धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर काफी मनन व चिन्तन किया। उन्होंने लिखा हैं, ''मैं अपने बाल्यकाल में पास–पड़ौसी मुसलमान मित्रों के सम्पर्क में आकर स्वार्थी हिन्दू धर्म के विषय में और उसमें जाति जैसी मिथ्या धारणाओं के विषय में मेरे मन में जो सही विचार आये इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।[21]

ज्योतिबा अपने सहपाठियों से कुछ अधिक आयु के थे लेकिन वे उन सभी से पढ़ाई में तेज थे। पढ़ाई में होशियार और तेज होने के कारण वे

प्रत्येक परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त कर अपने अध्यापकों के प्रिय बन गये। उनके सहपाठी भी उनका आदर करने लगे। उसी समय उनकी मित्रता एक ब्राह्मण छात्र सदाशिव बल्लाल गोवंडे से हो गई। दोनों मित्र बड़े उत्साही व महत्वाकांक्षी थे उन्होंने शिवाजी व जार्ज वांशिगटन की जीवनियाँ बड़े ध्यान या मनोयोग से पढ़ी थीं और उनसे काफी प्रेरणा ली कि देशप्रेम, वीरता और विचार रखने में ही जीवन की सफलता है और ऐसा करके ही वे मातृ भूमि को स्वतंत्र करा सकते हैं।[22]

दोनों मित्रों ने थॉमस पेन फी पुस्तक ''राइटस ऑफ मैन'' (मानव के अधिकार) भी पढ़ी जो सामान्य लोगों की बाइबिल समझी जाती है।[23] उसे पढ़कर उन्होंने अपना मनोबल और बाहुबल बढ़ाने की सोची। उन्होंने कई प्रकार के व्यायाम, डांड, पट्टे, लाठी, तलवार आदि के खेलों में भाग लेना आरम्भ कर दिया। इसके लिये उन्होंने अपना गुरू लहूजी सालवे मांग को बनाया जो अछूत जाति का था, लेकिन सैनिक व्यायाम का विशेषज्ञ था। इससे ज्योतिबा एक बाहुबली के रूप में प्रसिद्ध हो गये। उनके करतब देखने को सदैव भीड़ इकट्ठी हो जाया करती थी।[24]

सन् 1844 में गोंवडे पूना संस्कृत कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हो गये, लेकिन ज्योतिबा ने अपना अध्ययन जारी रखा और उन्होंने स्कूल की अन्तिम परीक्षा सन् 1847 में उत्तीर्ण कर ली। तब अंग्रेजी स्कूल में सातवीं कक्षा तक ही पढ़ाई होती थी। आगे उच्च शिक्षा हेतु कोई संस्थान नहीं था। तब तक उन्हें यह पूर्णतया विश्वास हो गया था कि गुलामी का मुख्य कारण मानसिक है। विभिन्न जातियों, पंथों आदि में विभक्त हमारा समाज मानसिक दृष्टि से भी पूर्णतया गुलाम है। उच्च जाति वालों ने निम्न वर्गों को सदियों से दबाकर रखा

है और उनके उत्थान के सभी रास्ते बंद कर रखे हैं। विदेशी सत्ता से संघर्ष तो ऊपरी है। वास्तविक संघर्ष भीतर की इस निर्दय व्यवस्था से करना है जो सदियों से यहां डेरा डाले हुए हैं। इसी व्यवस्था ने समाज के एक वर्ग को स्थायी रूप से कमजोर बनाकर अपमान, दरिद्रता और अभावों की अंधेरी खाईयों में फेंक दिया हैं। वे आदमी की भांति जी नहीं सकते हैं और उनकी दशा जानवरों से भी बदतर है।

ज्योतिबा की बाल्यकाल की शिक्षा से उनके चरित्र निर्माण में चार बातों का बड़ा योगदान रहा–

1. ईसाई धर्म में व्याप्त मानवतावाद।
2. उनकी धाय माँ सगुणाबाई की प्रेरणा।
3. ईसाई पादरियों के व्यक्तित्व और कार्य प्रणाली का प्रभाव।
4. अमेरिकी लेखक थामस पेन के विचारों का प्रभाव।[25]

ईसाई धर्म में व्याप्त मानवतावाद का प्रभाव उनके स्कॉटिश मिशन की स्कूल में पढ़ने से पड़ा। शिक्षा के अन्तिम कुछ वर्ष सरकारी स्कूल में बिताये थे और तब उनके मित्रों में सर्व श्री बापू रावजी मांडे, विष्णु मोरेश्वर भिड़े आदि थे। ये नगर में आयोजित ईसाई पादरियों के भाषण, प्रवचन बराबर सुनते रहते थे। इससे ज्योतिबा का धर्म चिन्तन आरम्भ हुआ। एकेश्वरवाद ईसा मसीह की सीख का मुख्य तत्व है। ईश्वर का पितृत्व और मनुष्यों का भ्रातृत्व ईसाई आचार–धर्म के दो मुख्य सूत्र रहे हैं। यह सही है कि ईसाई समाज के लोक व्यवहार में भी भेदभाव रहता हैं। लेकिन वह ईश्वरीय धारणा पर आधारित नहीं है। ईसा का आदेश है कि ईश्वर केवल जगत–पिता ही नहीं है, वह न्यायदाता भी है। अतः मनुष्य को अपने मन में उसका भय रखते हुए न्याय तथा नीति से

आचरण करना चाहिए। मनुष्य की उत्पति में ज्ञान तथा बल की कमी रहती है, अतः ईश्वर पर श्रृद्धा रखकर उसकी शरण में जाकर अपनी अराधना की सफलता के लिए उसकी नियमित रूप से प्रार्थना कर अपनी शक्ति केन्द्रित करनी चाहिए।

ईसा के कुछ वचनों ने ज्योतिबा को काफी प्रभावित किया :–

(क) ईश्वर एक ही है। सभी स्त्री पुरूष ईश्वर की सन्तान हैं। अतः सभी स्त्री पुरूषों को एक दूसरे के साथ भाई बहिन जैसा बर्ताव करना चाहिए।

(ख) शत्रु से भी प्रेम करो।

(ग) उनका भी भला करो जो तुमसे जलते हैं, ईर्ष्या करते हैं।

(घ) तुम लोगों के साथ वैसा ही बर्ताव करो जैसा उनसे अपने प्रति करवाना चाहते हो।

(ङ) जैसे तुम्हारा पिता ईश्वर दयावान है वैसे ही तुम भी दयावान बनो।[26]

ज्योतिबा की मौसेरी बहिन एवं धाय माँ सगुणाबाई ने उनका न केवल भली प्रकार लालन–पालन किया बल्कि उनके मन में मानव धर्म का महत्व भी जागृत कर दिया था। सगुणाबाई ईसाई पादरी जॉन के यहां बच्चों को सम्भालने जाती थीं और उनके साथ ज्योतिबा भी जाते रहते थे। इससे ईसाई पादरियों के समर्पित जीवन को निकटता से देखने का उन्हें अवसर मिला और इस कारण उन्हें भी मानव सेवा की सीख मिली। वे गरीबों व पिछड़ों की सेवा करना अपना परम धर्म समझने लगे। इस प्रकार सगुणाबाई से निकट सम्पर्क रहने के कारण ज्योतिबा का ध्यान ईसाई धर्म के मानवतावाद की ओर गया।

ज्योतिबा ईसाई पादरियों के व्यक्तित्व और कार्यप्रणाली से काफी प्रभावित हुए। उन्हें पादरियों की कथनी और करनी में मानवता के दर्शन होते थे। हिन्दू धर्म के ग्रन्थों में कई प्रकार की नीतियां वर्णित थीं लेकिन उन ग्रन्थों से प्रेरित होकर शूद्रों और अतिशूद्रों से बड़ा ही अमानवीय व्यवहार किया जाता था। साधारण अधिकारों से भी उन्हें वंचित रखा गया था। हिन्दू पंडित, पुजारी, पुरोहित आदि के आचरणों में नैतिकता, सहृदयता और समाजहित की बातें नाममात्र की भी नहीं पायी जाती थीं जबकि ईसाई पादरियों के कार्यों में शिक्षा के प्रति रूचि, धर्मनिष्ठा, कर्तव्यदक्षता, समाज के निचले लोगों के प्रति सहानुभूति आदि स्पष्ट दिखाई देती थी। उन्होंने ही सर्व साधारण को साक्षर करने के लिए विद्यालय खोले, निम्न वर्गों में शिक्षा के प्रति रूचि जागृत की। वे उनके तीर्थ स्थलों, मेलों आदि में जाते व अपने धर्म का प्रचार लोगों की भाषा मराठी में करते थे। अपने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। समय–समय पर व्याख्यान मालायें भी आयोजित कर अपने धर्म के मर्म को लोगों को समझाते थे तथा निःशुल्क अपनी धार्मिक पुस्तकें वितरित करते रहते थे। ज्योतिबा इन प्रवचनों में भाग लेते रहते थे तथा उनका साहित्य भी पढ़ते थे। इसी से उनका चिंतन तर्कसंगत बना। हिन्दू पण्डित व पुजारी इन पादरियों से घृणा करते थे और मौका लगने पर उन्हें परेशान भी करते थे। ज्योतिबा ने यह सब कुछ देखकर लिखा है कि धूर्त छलियों के संकेत पर अज्ञानी शूद्रों के लड़के तालियाँ बजाते शोर मचाते हुए पादरियों का पीछा करते उन पर धूल, मिट्टी फेंकते, उन्हें भगा देते थे। कभी कोई उन्हें पकड़ता, मारता और पीटता भी था।[27]

पादरी यह सब कुछ सहन करते थे। वे इन बातों को अपनी धर्म श्रृद्धा की कसौटी मानते थे यह देखकर ज्योतिबा जैसे नवशिक्षित युवक के मन में ईसाई पादरियों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो गया। वे ईसाई नहीं बने लेकिन समझ गये कि ईसाई धर्म की बातें निम्न वर्ग तबकों के लिए हितकर है।

ज्योतिबा ने थामस पेन की पुस्तक ''राइटस ऑफ मैन'' (मानव के अधिकार) पढ़कर बड़ी प्ररेणा ली थी। मध्यकाल में ईसाई पादरी उन सभी लोगों को पाखण्डी बतलाते थे जो ईसा मसीह और बाइबिल पर विश्वास नहीं करते थे। तभी थामस पेन ने ''राइटस ऑफ मैन'' लिखकर लोगों को बतलाया कि धर्म ईश्वर की अराधना करने वाले प्रत्येक का निजी तथा व्यक्तिगत विषय है। विषय का निर्माता ईश्वर है और उसकी शरण में विशुद्ध रूप से जाने वाले मनुष्य और ईश्वर के मध्य किसी भी बिचौलिये की आवश्यकता नहीं है।[28] धार्मिक श्रृद्धा स्वतंत्र तथा स्वयंस्फूर्त होनी चाहिए। उस पर जो धर्म का बाजार लगाया जाता है वह न केवल अनावश्यक और अनिष्टकारी है बल्कि पापमूलक और पाखण्ड सर्जक भी है।

थामस पेन ने अपनी एक दूसरी पुस्तक दी एज ऑफ रीजन (तर्कयुग) में लिखा है ''यदि ईश्वर एक ही है तो ईश्वर द्वारा व्यक्त किये विचारों, घोषित की गई सुवार्ता का अर्थ निश्चय ही एक ही होना चाहिए, लेकिन अलग–अलग धर्मों के पवित्र ग्रन्थों को अनेक श्रद्धालु लोग भले ही पवित्र व पूज्य ग्रन्थ मानते आये हों लेकिन उन्हें ईश्वर रचित मानना उचित नहीं हैं।[29]

3. विवाह और विद्या अध्ययन :

गोविन्दराव जी ने ज्योतिबा का प्रचलित रीति रिवाजों के अनुसार विवाह करने का निश्चय किया। जब वह 13 वर्ष का था उनकी शादी 9 वर्ष की लड़की सावित्री बाई से जो सतारा जिले में खण्डाला तहसील के नया गाँव के खण्डोजी नेवा पाटिल की कन्या थी सम्पन्न कर दी गई।[30] सावित्री बाई का जन्म 3 जनवरी 1831 को हुआ। उनकी माता का नाम लक्ष्मी बाई और पिता का नाम खण्डोजी था। उन्होंने छोटी उम्र में ही नारी शिक्षा का प्रचार प्रसार का बीड़ा उठाया और महिला शिक्षा के क्षेत्र में अपने पति से कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करना आरम्भ कर दिया।[31] दोनों शादी के अर्थ को नहीं समझते थे। उस समय बच्चे अपनी शादी में इतने छोटे होते थे कि ज्योतिबा के सहपाठी केशव भावलेकर ने अपनी माता से पूछा की क्या वह अपनी शादी में भाग लेगा। ज्योतिबा ने पढ़ाई छोड़ने के बाद भी पढ़ाई बन्द नहीं की बल्कि उसे बनाये रखा। पढ़ाई के प्रति उनका लगाव इतना अधिक था कि ज्योतिबा के इस गुण ने कई विद्वान एवं सदाशमी पड़ौसियों का ध्यान आकर्षित किया। इनके पड़ौस में दो ऐसे विद्वान थे जिनमें एक का नाम गफ्फार बेग मुंशी था जो उर्दू व फारसी के अध्यापक तथा दूसरे लेजिट नामक क्रिश्चियन थे, जो सरकारी अधिकारी और मिशनरी थे। इन्होंने गोविन्दराव को शिक्षा के महत्व के बारे में अत्यधिक ढंग से समझाया तथा कहा कि उसके पुत्र ज्योतिबा के उज्ज्वल भविष्य के लिये पुनः स्कूल में दाखिला कराया जाये।

गोविन्दराव ने दोनों विद्वानों की बात मानकर सन् 1841 में ज्योतिबा का मिशन स्कूल में दाखिला कराया, जब वह 14 वर्ष के थे। दृढ़ इच्छा शक्ति वाले और जिज्ञासु बालक ने अपने अध्ययन में गहन रूचि दिखाई। अपने

स्कूली जीवन में उनकी मित्रता सदाशिव बलाल गोवाण्डे से हुई जो एक गरीब ब्राह्मण परिवार का था।

घर पर ज्योति के खेल के साथी मुस्लिम लड़के थे। उनकी संगति में रहकर ज्योतिबा ने हिन्दुत्व के नाम पर की जा रही चालाकी व जुल्मों के बारे में काफी सीखा। उन्हें स्कॉटिश मिशन से मनुष्य के कर्तव्यों एवं जार्ज वांशिगटन की जीवनियाँ पढ़ी। उनकी बहादुरी, देशप्रेम और उच्च आदर्शों के बारे में पढ़ा और उनके जैसे ही कार्य कर अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने की प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने थामस पेन की महान पुस्तक 'राइटस ऑफ मैन' का अध्ययन किया। उन्होंने लहूजी सालवे की मांग से तलवार और डॉड पट्टा चलाना सीखा। गोवाण्डे सन् 1843 में संस्कृत कॉलेज में अध्यापक बन गये और ज्योति ने अंग्रेजी की पढ़ाई कोर्स पूरा होने तक चालू रखी। इसी समय ज्योतिबा ने सखाराम यशवन्त पराजंपे को दोस्त बनाया और सदाशिव बलाल गोवण्डे ने मोरो विठुल वालवेकर को दोस्त बनाया। इन चारों दोस्तों के मस्तिष्क पर पश्चिम शिक्षा और मिशनरी व्याख्यानों का बहुत प्रभाव पड़ा। वालवेकर ने अपनी आत्मकथा में यहां तक लिखा है कि उसके जीवन में ऐसे क्षण भी आये जिनमें उसने हिन्दुत्व में विश्वास खो दिया और ईसाई बनने की ठान ली।[32]

लेकिन तभी चारों दोस्तों ने यह पाया कि प्रत्येक धर्म में अच्छी बातें और प्रत्येक में अन्धविश्वास (डॉगमाज) हैं, जिन्हें बिना जाने मानना पड़ता है। इसलिए उन्होंने तय किया कि सब धर्मों के अच्छे एवं समान सिद्धान्तों को मानना चाहिए। मुख्य धर्म के प्रति सद्व्यवहार करना है जबकि बुरा व्यवहार करना पाप है।

सन् 1847 में ज्योतिबा ने अपने अंग्रेजी स्कूल की पढ़ाई पूरी कर ली। अमेरिका के स्वातंत्रता संग्राम से जो प्रेरणा ज्योतिबा को मिली वह बहुत गहरी थी। वे मानव की समानता, मानव के अधिकार एवं मानव के स्वतंत्रता के विचारों से ओत–प्रोत हो गये। ज्योतिबा ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'गुलामगिरी' में लिखा है कि वह अंग्रेजों को भारत से बाहर भगा देने के विचारों से आप्लावित थे क्योंकि उस समय महाराष्ट्र में अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह तेजी से बढ़ रहा था।

सन् 1826 में उमाजी नायक ने विद्रोह किया, लड़े और समाप्त हो गये और इतिहास के व्यक्ति बन गये। सन् 1830 में पूना के उत्तर पश्चिम भाग में कोलीज ने विद्रोह किया। सतारा के प्रताप सिंह जिन्हें सन 1862 में गदीसीन किया गया, 4 सितम्बर सन् 1839 को देश निकाला देकर बनारस भेज दिया गया। सन् 1839 से 1846 के मध्य माहुखेर, चिमनाजी जांधव और नाना दरबारे गद्दी विहीन पेशवा के पक्ष में विद्रोह में खड़े हुए। रामचन्द्र गोरे और ए कोली को फांसी पर लटका दिया गया। सन् 1848 में राधोजी माधरे के विद्रोह को कुचल दिया गया, उन्हें फांसी पर लटका दिया गया।[33]

ज्योतिबा के मस्तिष्क में आजादी का बीज उनके ब्राह्मण मित्रों ने बोया। ब्राह्मण लोग पेशवा शासन के लीडर और पुरोहित पुजारी होने के कारण उनकी महत्वाकांक्षा तथा देशभक्ति की भावना ने उन्हें ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने हेतु तैयार किया, यद्यपि वे ब्रिटिश शासन की नौकरी में थे। बम्बई के गवर्नर सर रिचर्ड टैम्पल ने सन् 1879 में भारत के गवर्नर लार्ड लिटन को जो रिर्पोट भेजी उसमें लिखा कि जो कुछ भी हम वेतन, नौकरी एवं विकास के जरिये कर रहे हैं, उससे चितपावन ब्राह्मण संतुष्ट नहीं है।

वे तब तक खुश नहीं होगें जब तक वे अपनी खोई हुई प्रभुसत्ता प्राप्त नहीं कर लेगे। ऐसी अदम्य एवं उत्कृष्ट राष्ट्रीय व राजनैतिक महत्वकांक्षा जिसे दबाना बहुत मुश्किल है, वह पश्चिमी भारत के ब्राह्मणों में अत्याधिक है।

शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त बागवान का पुत्र ज्योतिबा अपना जातिगत कार्य बागवानी करने लगा जैसे कि कारपेन्टर का लड़का लकड़ी का कार्य करने लगता है। लेकिन ज्योतिबा पूर्व के बने हुए रास्ते का अनुगामी नहीं बल्कि रास्ता बनाने वाला था। उनके दिमाग में मानव कल्याण व मानव सेवा के विचार उमड़ रहे थे। तभी एक घटना घटी जिसने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया जिसके कारण वे आगे चलकर महान क्रान्तिकारी समाज सुधारक बनें।

4. अपमान की आग :

सन् 1848 के प्रारम्भ की घटना है, ज्योतिबा अपने एक घनिष्ठ ब्राह्मण मित्र के विवाह में सम्मिलित हुए जिसका उन्हें निमन्त्रण मिला था। ज्योतिबा अपने मित्र की बारात के साथ–साथ चल रहे थे, कतिपय कट्टर पंथी ब्राह्मणों ने उन्हें पहचान लिया। एक निम्न माली जाति का लड़का ब्राह्मणों भूदेवों की बारात में साथ–साथ चल रहा है, इस दृश्य से कट्टरपंथी ब्राह्मण अत्यधिक क्रोधित होकर बोले कि हे शूद्र बालक तुमने हमारी बारात में चलने के तमाम नियमों को तोड़कर हमें अपमानित किया है। तुम हमारे बराबर नहीं हो। तुमकों बारात में आने से पूर्व सौ बार सोचना चाहिए था। ब्रिटिश राज्य में लोग जाति बन्धनों को तोड़ कर हठधर्मी बन गये हैं। डांट फटकार सुनकर बाल ज्योतिबा स्तब्ध रह गया।[34]

ज्योतिबा को यह जानकर बेहद दुख हुआ कि दलित वर्ग को ब्राह्मणों के साथ रास्ते में चलने का सामान्य अधिकार भी नहीं। कुत्ते बिल्ली तो उनके साथ चल सकते हैं लेकिन हम नहीं। ज्योतिबा ने मनन किया कि जब मैं और ब्राह्मण एक ही धर्म को मानते है तब मैं ब्राह्मणों से तुच्छ कैसे हुआ ? धर्म तो मनुष्य का ईश्वर से संबंध स्थापित करता है। तब ज्योतिबा इस निष्कर्ष पर पहुंचे की ब्राह्मण उच्च वर्ग का होने के कारण सर्वोच्च शक्ति का उपयोग करता रहा। जाति प्रथा के शिखर पर होने के कारण वह स्वयं को शासक समझाता है। इसलिए इन सब अनर्थों की जड़ जातिप्रथा है। यह सामाजिक जीवन का अभिशाप है। जाति प्रथा एकता, संगठन और सांस्कृतिक जीवन की शत्रु है। ब्राह्मणवाद जाति प्रथा का ब्राह्म प्रकटीकरण है। अतः हमें ब्राह्मणवाद को नष्ट करना है जिसने गैर ब्राह्मणों को दासता की जंजीरों में जकड़ दिया है। पेशवा राज्य में अतिशूद्रों एवं अस्पृश्यों पर अनेक कठोर निषेधाज्ञाएं एवं पाबन्दियाँ लगी हुई थीं जिनके कारण उन्हें अपमानित जीवन जीना पड़ रहा था, जिसे ज्योतिबा ने प्रत्यक्ष देखा की पूना की गलियों में अतिशूद्र अस्पृश्य लोग प्रातःकाल व सांयकाल राह में चलने वाले व्यक्ति की परछाई बड़ी होती है, जो ब्राह्मणों पर पड़ सकती है, जिससे वे लोग अपवित्र होते थे। अस्पृश्य महार, मांग लोग दिन में दोपहर में ही चल सकते थे उस समय मनुष्य की परछाई छोटी होती है। इसके अलावा पीठ पर झाड़ लटकानी पड़ती थी तथा गले में थूकने का बर्तन व बजने वाली घंटी बांधनी पड़ती थी तथा सिर पर मोर पंख लगाना पड़ता था जिससे दूर से भी पता चल जाता था कि एक अछूत आ रहा है उससे बच जाओ।[35] ऐसी विषय सामाजिक परिस्थिति का आंकलन एवं अनुभव ज्योतिबा ने किया और वे जाने कि सामाजिक गुलामी, राजनैतिक गुलामी से बदतर है। दलितों के राजनैतिक गुलामी दूर करने से

पूर्व इस सामाजिक गुलामी के मकड़जाल से बाहर निकालना है। यदि अभी से अंग्रेजों को भारत से भगा दिया तो पुनः ब्राह्मणी वर्चस्व स्थापित हो जायेगा और आजादी का लाभ जन सामान्य को नहीं मिलेगा और वह अधिक गुलामी के चक्रव्यूह में फंस जायेगा। अंग्रेजी राज का हमें लाभ उठाना चाहिए। शिक्षा ग्रहण कर अज्ञान का अन्धकार दूर भगाकर हिन्दू धर्म की धार्मिक, सामाजिक गुलामी को दूर कर अपने पैरो पर खड़े होना है। ऐसी स्थिति में महात्मा फुले ने दृढ़ संकल्प किया कि कट्रतावादी समाज व्यवस्था को ध्वस्त कर समता, स्वतंत्रता, भाईचारा और सामाजिक न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है।[36]

5. ज्योतिबा के प्रेरणा स्रोत :

सन् 1847 में ज्योतिबा ने अपना स्कूल अध्ययन पूरा कर लिया। तब सबसे ऊँची कक्षा सातवी। तक ही होती थी। वे बाहर पढ़ने नहीं जा सके, लेकिन तब तक वे विभिन्न महापुरूषों वांशिगटन, शिवाजी, विलियम जॉन्स, मर्टिन लूथर आदि की जीवनियां पढ़कर स्वतन्त्रता आंदोलन के विषय में प्रेरणा प्राप्त कर चुके थे। तब तक वे मानवीय समानता, मानव अधिकार और मानव स्वतन्त्रता के सच्चे समर्थक बन गये थे। एक दिन घर लौटते समय उनका दो अंग्रेज सैनिकों से झगड़ा हो गया। बात ही बात में मारपीट आरम्भ हो गई। तब ज्योतिबा ने पास के खेत में खड़े गन्ने निकाल कर उन सिपाहियों की अच्छी मरम्मत की थी। गोरे भाग गये।

लहूजी सालवे का प्रशिक्षण उनके काम आया। वास्तव में ज्योतिबा बलिष्ठ तो थे ही उनमें चपलता और साहस भी आ गया था।

यह ध्यान देने की बात है कि यदि तब से मिल सकती थी क्योंकि तब अंग्रेजी सरकार बिना किसी जाति, भेदभाव के भारतीयों को नौकरी दे रही थी। उन्हें शिक्षित भारतीयों की अत्यन्त आवश्यकता थी। ज्योतिबा सरकारी नौकरी कर आगे चलकर उच्च अधिकारी आसानी से बन जाते लेकिन उन्हें मानव समाज की सेवा करना उचित समझा और इस प्रकार निचली जाति के लाखों लोगों को शिक्षित कर उन्हें अच्छा मानव जीवन बिताने के लिए तैयार किया।

सभी प्रकार की गुलामी को उखाड फेंकने का भरसक प्रयत्न किया, चिरकाल तक टिकने वाली स्वतंत्रता के लिए आवश्यक भूमि तैयार कर परिणामस्वरूप कालान्तर में वे सामाजिक क्रान्ति के पुरोधा बने।[37]

महात्मा फुले चाहते थे कि समाज में व्यक्ति की स्थिति उसकी योग्यता के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिए। जब तक व्यवस्था जनित दोषों अर्थात भेद–भाव पूर्ण सामाजिक नियमों, जिनके रहते समाज के अधिसंख्य शूद्रातिशूद्र सामाजिक भेद–भाव अन्याय व अत्याचार के शिकार रहे हैं, को दूर नहीं किया जाता तब तक न तो अन्य वर्णों का और न ही समग्र समाज का विकास होगा।[38]

6. अंतिम यात्रा की ओर :

ज्योतिबा ने अपने जीवन काल में अनेक यात्राएं कीं। उन्होंने अनेक मंजिलों का सफर तय किया और हर यात्रा, हर मंजिल के बाद उन्होंने अगले पड़ाव का रूख किया। निरन्तर सफलताओं के पड़ाव पार करते करते अब उनका शरीर कमजोर होने लगा था। हालांकि उनके मन–वचन में अभी भी पहले जैसी चमक विद्यमान थी किन्तु तन की हालत जर्जर होने लगी थी।

जुलाई, 1888 में एकाएक उन्हें पक्षाघात ने आ घेरा। उनके शरीर का दांया भाग निष्क्रिय हो गया। डॉक्टर विश्राम घोले तक उनकी मन लगाकर चिकित्सा और सेवासुश्रुषा की। इस दुर्भाग्य की घड़ी में बड़ौदा के महाराज सिमाजीराव गायकवाड़ और नागेश्वरगीर के बाबा कल्याण गीर ने उनकी आर्थिक सहायता की।

ज्योतिबा इतने कमजोर हो गये थे कि उनसे चारपाई से उठा भी न जाता था। दिसम्बर 1888 में पक्षाघात का दूसरा दौरा उन्हें फिर पड़ा। इस समय ज्योतिबा बीमारी के कठिन दौर से जूझ रहे थे, दूसरी ओर उनके अनुयायी सत्य शोधक समाज के कार्यकर्ता सामाजिक उत्थान के लिए जूझ रहे थे। उनके अनुयायी घर पर निरन्तर उनके स्वास्थ्य की जानकारी लेने के लिए जुटे रहते थे।[39]

गंभीर अस्वस्थता के बावजूद ज्योतिबा अपने अनुयायियों को दिशा निर्देश देते रहते थे और इस दशा में भी उनसे चर्चा–परिचर्चा करने में कोताही नहीं बरतते थे। सत्य शोधक समाज की सारी कार्यवाहियाँ पूर्ववत चल रही थी। गंभीर बीमारी की अवस्था में भी 1 अप्रेल, 1889 को ज्योतिबा ने अपनी पुस्तक 'सार्वजनिक साथ धर्म' की प्रस्तावना लिखी और पुस्तक को प्रकाशन के लिए भेज दिया किन्तु दुर्भाग्यवश यह पुस्तक उनके जीवन काल में प्रकाशित न हो सकी।

ज्योतिबा की बीमारी अब ऐसा लगता था जैसे अंतिम दौर में पहुंच गई थी। ज्योतिबा इस तथ्य को भली प्रकार समझते थे कि जो प्राणी इस संसार में आया हैं। उसे यहां से जाना भी निश्चित हैं। अतः किसी प्रकार का दुख, क्षोभ उचित नहीं हैं। सही बात ज्योतिबा अपने अनुयाईयों को समझा रहे थे।

ज्योतिबा के वरिष्ठ अनुयायी, उनकी पत्नी सावित्री बाई और दत्तक पुत्र खड़े थे। फिर उन्होंने यशवंतराव को भी अपने पास बुलाया किन्तु वे यशवंतराव से कुछ कह न सके और उन्होंने एक जोर की हिचकी ली।[40]

28 नवम्बर, 1890 को रात्रि के दो बजकर बीस मिनट पर ज्योतिबा के द्वारा ली गई वह अंतिम हिचकी थी। फिर एकाएक उनकी गर्दन एक तरफ लुढ़क गई।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था को आमूलचूक परिवर्तन देने वाला यह योद्धा ज्योतिबा फुले फिर अपने नश्वर शरीर को धरा पर ही छोड़कर अंतिम यात्रा की ओर चल पड़ा। भारतीय समाज में विशेष रूप से दबे–कुचले बहुजन समाज में उन्होंने अपना जो स्थान बनाया, वह निश्चित रूप से मील का पत्थर रहेगा।[41] संक्षेप में फूले के आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य, मध्यम वर्गीय जातियों, विशेषकर महाराष्ट्र में महार लोगों के लिए सामाजिक एवं धार्मिक मान्यता प्राप्त करना था। बहुत कुछ सीमा तक, उन्हें इस कार्य में सफलता मिली।[42] समाज सुधार के क्षेत्र में ज्योतिबा फूले के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर काफी जोर दिया और इसलिए 1854 ई. में उनकी पत्नी व महात्मा फुले ने लड़कियां के लिए स्कूल खोला था। उन्होंने महाराष्ट्र में विधवा विवाह आन्दोलन को लोकप्रिय बनाया।[43]

फुले ने महाराष्ट्र में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन का बिगुल बजाया जिसका उद्देश्य ब्राह्मणों और उनके अवसरवादी झूठे शास्त्रों से निम्न जातियों की रक्षा करना था।[44]

जिस समय देश के दक्षिण भारतीय समाज में शिक्षा की अलख ज्योतिबा फुले ने जगायी थी उसी समय उत्तर भारत में भी शिक्षा दलितोद्वार व स्त्री शिक्षा कार्य अपने हाथ में गुजरात के महान समाज सुधारक राष्ट्र निर्माता दयानन्द सरस्वती एवं महात्मा गांधी और राजस्थान में हरविलास शारदा ने अपने समाज सुधार के कार्यों से देश निर्माण में सहयोग किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवन परिचय :

स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय पुनर्जागरण काल के अग्रणी पुरोधा–पुरूषों में एक थे। आधुनिक भारत के नव–निर्माण का मंत्र देने वाले स्वामी दयानन्द ने अपने क्रान्तिकारी विचारों से सोये भारत को झिंझोड़ दिया थां उन्होंने करोड़ों भारतवासियों के मन पर छाए अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाने, अन्धविश्वास, मिथ्यावाद, धर्मान्धता और सड़ी–गली रूढ़ियों को समाप्त करने हेतु जीवन पर्यन्त पुरजोर कोशिश की।

'भारत भारतवासियों का' नारा देकर स्वामी दयानन्द सरस्वती भारत में अंग्रेजों द्वारा हो रहे शोषण के विरूद्ध खड़े हो गये थे। भारत के पिछड़ेपन के सरोकारों से वे बहुत चिन्तित थे। उन्होंने पीड़ा के साथ कहा था, ''दुर्भाग्य, आलस्य, उपेक्षा ओर आन्तरिक मतभेदों के कारण अन्य देशों की बात तो दूर, स्वयं भारत में आर्यो की अपनी एक स्वतंत्र स्वाधीन या निर्भीक सरकार नहीं है। आज जो कुछ थोड़ा बहुत है वह भी विदेशी है। कुछेक रियासतें स्वतंत्र है। दुर्दिन आने पर किसी भी देश के निवासियों को तरह–तरह की कठिनाइयाँ भोगनी पड़ती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सुराज, स्वराज्य और स्वदेशी की वकालत की जाति–प्रथा की आलोचना करते हुए उन्होंने दलितोद्वार हेतु कार्य किया। स्त्री शिक्षा और समानता के सिद्धान्त पर उसकी स्थिति सुधारने हेतु वे सदैव सजग रहे। उन्होंने स्त्री जाति पर हो रहे अत्याचार के विरूद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया। उनका मानना था कि जब तक मानव की निर्मात्री स्त्री जाति को सभ्य शिक्षा और संस्कारयुक्त नहीं बनाया जायेगा तब तक विश्व की मानवजाति सभ्य, संस्कारी और शिक्षित नहीं हो सकती।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का दृढ़ विश्वास था कि पराधीनता का सबसे बड़ा कारण जन्ममूलक जातिवाद था। अस्पृश्यता, छुआछूत, ऊँच–नीच की अमानवीय भावनाओं ने भारतीय समाज में एक ऐसी दीवार खड़ी कर दी थी कि मानव, मानव से घृणा कने लगा था। ईसाईयों और मुसलमानों ने अपने निहित स्वार्थों के चलते अस्पर्श समझे जाने वाले लोगों को अपने हाथों में लेने के लिए अनेक प्रकार के लोभ–लालच देकर उनका धर्म परिवर्तन करवाना आम बात थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त राजनैतिक षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ करते हुए आत्म गौरव का अलख जगाते हुए शुद्धिकरण और यज्ञोपवीत द्वारा उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश दिलवाया। उन्होंने जोर देकर कहा कि जाति का निर्धारण होना चाहिए, जन्म के आधार पर नहीं। महात्मा गांधी ने स्वामी जी के इस क्षेत्र में उनके योगदान को स्वीकार करते हुए ठीक कहा था कि स्वामी दयानन्द ने जो बहुत–सी अच्छी बातें हमें दी उनमें से एक है अस्पृश्यता के विरूद्ध उनकी शिक्षाएं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सामाजिक पुनर्जागरण के साथ–साथ देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने पर बल दिया। आर्य समाज की

स्थापना कर उन्होंने अपने विचारों को वृहतर भारत में फैलाने का सुप्रयास किया। आर्य समाज ने न केवल धार्मिक सुधार और राष्ट्रीय पुनर्जागरण बल्कि एक ऐसी उदाय और सर्वग्राही राष्ट्रीयता के धर्म को जन्म दिया जिसकी तुलना 1789 में फ्रांस की क्रान्तिजनित राष्ट्रीयता की भावना से ही की जा सकती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती एक महान योगी क्रान्तिकारी समाज सुधारक, दार्शनिक और राष्ट्रवादी नेता थे। तत्कालीन भारत की समस्याओं के निदान हेतु उनका अपना तरीका था और संघर्ष की अनूठी ललक थी।[45]

आरम्भिक जीवन :

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म 1824 ई. में गुजरात के टंकारा परगने के शिवपुर ग्राम में एक धनी रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके बचपन का नाम मूलशंकर था। जब वे 14 वर्ष के थे, तब एक बार शिवरात्रि के पर्व पर अपनें पिता के साथ शिव मन्दिर गये। वहां उन्होनें एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़कर प्रसाद खाते देखा तो उनका मूर्तिपूजा से विश्वास उठ गया।[46] जब उनके पिता ने उनके विवाह का प्रबन्ध किया तो 1845 में 21 वर्ष की आयु में उन्होंने आध्यात्मिक खोज के लिए भगवान बुद्ध की भाँति गृह–त्याग कर दिया। अगले 19 वर्षों तक ये विभिन्न स्थानों पर भम्रण करते रहे तथा अध्ययन करते रहे। 1860 में मथुरा पहुंचे और वहां दण्डी स्वामी विरजानन्द के चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया। स्वामी विरजानन्द वैदिक साहित्य, भाषा एवं दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने दयानन्द को वेदों में निहित ज्ञान की व्याख्या समझाई। अतः यहां पर दयानन्द को विश्वास हो गया कि वेद ही समस्त ज्ञान के स्त्रोत है। स्वामी विरजानन्द ने उनको विदा करते

हुए उन्हें पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन कर देश में वैदिक धर्म व संस्कृति की पुनः स्थापना करने का आदेश दिया।[47] स्वामी दयानन्द जीवन भर इस आदेश का पालन करते रहे।[48]

दयानन्द अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे तथा पाश्चात्य सभ्यता व ईसाई धर्म से भी अप्रभावित थे। उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करना था। तथा हिन्दू धर्म की बुराइयों को निकालना था। वे अपने धर्म–प्रचार के कार्यों में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे किन्तु केशवचन्द सेन के परामर्श से उन्होंने हिन्दी भाषा के माध्यम से जन–साधारण को अपना सन्देश दिया। उन्होंने 1863 में आगरा से अपने धर्म प्रचार का कार्य आरम्भ किया। 1874 ई. में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्याथ प्रकाश' की रचना की। वाराणसी में कर्मकाण्डी पण्डितों से हुए शास्त्रार्थ में उन्होंने प्रमाणित किया कि वेद ही समस्त ज्ञान के आधार है तथा मूर्तिपूजा वेदों की शिक्षा के प्रतिकूल है। उन्होंने हिन्दू धर्म, सभ्यता और भाषा के प्रचार के लिए 10 अप्रेल, 1875 ई. को बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। उसके बाद स्वामीजी दिल्ली गये, जहां ईसाई, मुसलमान और हिन्दू पण्ड़ितों की एक सभा बुलाई, किन्तु दो दिनों के विचार–विमर्श के बाद भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला। दिल्ली से स्वामी पंजाब गये, जहां उनके प्रति बड़ा उत्साह जागृत हुआ। जून, 1877 में लाहौर में आर्य समाज की एक शाखा खोली गई और कालान्तर में इस आन्दोलन का प्रमुख कार्यालय लाहौर ही बन गया। इसके पश्चात् भारत के विभिन्न प्रान्तों में अपने विचारों का प्रचार करते रहे तथा आर्य समाज की शाखाएं स्थापित करते रहे।[49]

अपने विचारों का प्रचार करने के लिए स्वामीजी ने तीन ग्रंथ लिखे थे। 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' में उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को

स्पष्ट किया। दूसरे ग्रंथ 'वेदभाष्य' में उन्होंने यजुर्वेद और ऋग्वेद पर टीका लिखी। उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' है। इसमें स्वामी ने सभी धर्मो का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह प्रमाणित किया कि वैदिक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने इस ग्रन्थ में पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों का खण्डन जिस निर्भयता से किया है, उसी ढंग से इस्लाम तथा ईसाइयत के ढोंग, आडम्बर तथा अन्धविश्वासों की भी तीव्र आलोचना की है। इससे हिन्दू जनता को यह जानकर सन्तोष हुआ कि पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नहीं है। दूसरा यह कि हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट हुआ और वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिए गौरव का अनुभव करने लगे। ईसाइयत की श्रेष्ठता की भावना जो बल पकड़ रही थी, स्वामीजी ने उस पर रोक लगा दी। स्वामीजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में अवतारवाद, तीर्थ–यात्रा, श्राद्ध, व्रत–अनुष्ठान आदि पौराणिक बातों का बड़े ही युक्तिपूर्ण ढ़ंग से खण्डन किया। उन्होंने प्रतिदिन वेद में निर्दिष्ट यज्ञ तथा संध्या करना प्रत्येक आर्य के लिए आवश्यक बताया। स्वामीजी ने छुआछूत के विचारों को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्त्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया। स्वामीजी ने बाल विवाह, बहु विवाह तथा पर्दा–प्रथा का खण्डन किया। उन्होंने स्त्री–शिक्षा पर जोर दिया तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया।[50]

स्वामी दयानन्द के अन्तिम दिन राजस्थान में व्यतीय हुए, जहां अनेक राजा तथा जागीरदार उनके शिष्य बने। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने उनसे मनुस्मृति, राजनीति तथा राजधर्म की शिक्षा ग्रहण की। 1881 में उदयपुर के ही एक जागीदार बनेड़ा के राजा गोविन्दसिंह का निमन्त्रण प्राप्त कर वे बनेड़ा गये। बनेड़ा में स्वामी 16 दिन रहे और इस दौरान स्वामीजी ने राजा

गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों अक्षयसिंह और रामसिंह को संस्वर वेद पाठ करना सिखाया। स्वामी जी ने दोनों राजकुमारों को 'वर्णोच्चारण शिक्षा' नामक पुस्तक उपहार में दी। तत्पश्चात वे चितौड़गढ चले गये। मार्च 1883 में वे जोधपुर आये, जहां किसी के द्वारा स्वामीजी को विष दे दिया गया। धर्म के ऐसे महान आचार्य की 30 अक्टूबर, 1883 को दीपावली के दिन अजमेर में जीवन लीला समाप्त हो गई। स्वामी जी की मृत्यु पर मेडम ब्लेवटास्की (रूसी) ने लिखा था, ''यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी व्यक्ति तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।'' स्वामीजी की मृत्यु के बाद 'शियोसोफिस्ट' अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था, ''उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन जनसमूह पर भारी प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदय में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी। सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।''[51]

हरविलास शारदा :

नारी उत्थान में जिस प्रकार महाराष्ट्र एवं गुजरात में ज्योतिबा फुले एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम सर्वोपरि है उसी प्रकार राजस्थान में नारी उत्थान एवं शिक्षा की अलख जगाने में समाज सुधारक हरविलास शारदा का महत्वपूर्ण स्थान है। श्री हरविलास शारदा राजस्थान के उन युगचेता मनीषियों में से एक थे जिसने अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान का कायाकल्प करने का प्रयास किया। वह बचपन से ही महान समाज सेवी ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में आये और उनकी वेदों में आस्था तथा समाज से अंधविश्वास व संकीर्णता

आदि कमजोरियों को दूर करने के संकल्प से बड़े प्रभावित हुए। उस महान विभूति से प्रेरणा लेकर भारतीय समाज के उत्थान हेतु संघर्षरत रहे।[52]

हरविलास शारदा इतिहासकार एवं राष्ट्र–प्रेमी ही नहीं अपितु अपने समय के एक प्रमुख समाज सुधारक भी थे। उनके ह्रदय में यहां के स्त्री समाज की गिरी हुई दशा के लिए बड़ी करूणा थी। अतः उन्होंने इस समाज के उत्थान के लिए समर्पित भाव से काम किया। राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द विद्यासागर, गोविन्द रानाडे और दयानन्द तथा गांधीजी ज्योतिराव फुले जैसे समाज सुधारकों की श्रृंखला में हरविलास शारदा ने भी उस समय अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किये। शारदा द्वारा प्रस्तुत बाल–विवाह निरोधक अधिनियम को ब्रिटिश सरकार की लेजिस्लेटिव एसेम्बली ने स्वीकृति दी जो एक ऐतिहासिक उपलब्धि कही जा सकती है। उसने विधवाओं की आर्थिक व सामाजिक हालत सुधारने के लिए एक अन्य बिल भी प्रस्तुत किया था। जिसका आराम हिन्दू विधवा स्त्री का पति की सम्पति में भागीदारी स्वीकार करना था, यद्यपि उनका यह बिल सरकारी विरोध के कारण पास नहीं हो सका, परन्तु स्त्री जाति की आर्थिक व सामाजिक दशा को सुधारने में उसके इस प्रयास ने एक जाग्रति का वातावरण पैदा किया।

19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब परास्त हिन्दू समाज दीन–हीन स्थिति में था और नारी समाज कष्टमय एवं हेय जीवन व्यतीत कर रहा था तब शारदा ने यह महसूस किया था कि स्त्री समाज पुरूष की तरह ही समाज का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। और जब तक वह पिछड़ा रहेगा तब तक न तो समाज की उन्नति हो सकेगी और न ही राष्ट्र आगे बढ़कर स्वाधीनता के दर्शन कर सकेगा। अतः उन्होंने निःसंकोच भाव से स्त्री को पुरूष के समकक्ष समझा

और उनकी शिक्षा की व्यवस्था के लिए भी सरकार से आग्रह किया तथा पर्दा–प्रथा व दहेज–प्रथा को समाज की उन्नति के लिए घातक बताया।

हरविलास शारदा का जीवन परिचय :

हरविलास शारदा का जन्म अजमेर में एक प्रतिष्ठित महेश्वरी परिवार में 3 जून, 1867 ई. को हुआ था। उनके पिता हरनारायण शारदा मिलनसार, भाषा, साहित्य के प्रेमी, अध्ययनशील, वेदान्त–दर्शन के मर्मज्ञ और निष्ठावान व्यक्ति थे। ग्रीष्मकालीन अवकाश के समय प्रतिवर्ष पुस्तकालय की पुस्तकों की वस्तुगत परिगणना हुआ करती थी। इस कार्य के लिए हरनारायण अपने पुत्र हरविलास शारदा की सेवाऐं लिया करते थे। बालक हरविलास बड़े चाव व लगन से अपने पिता के कार्य में हाथ बंटाता था। इसका लाभ यह हुआ कि बाल्यकाल में ही हरविलास को साहित्य, इतिहास दर्शन आदि विषयों सम्बन्धी महत्वपूर्ण पुस्तकों की जानकारी प्राप्त हो गई। उनके मन में पुस्तकों के प्रति प्रेम जागृत हुआ। उनमें अध्ययन के प्रति अभिरूचि में वृद्धि हुई। उन्होंने युवा अवस्था में ही साहित्य–दर्शन व इतिहास की पुस्तकों का अच्छा अध्ययन कर लिया था। वह आदतन अध्ययनशील बन गया था।[54]

हरविलास शारदा अपने पिता का इकलौता पुत्र था। उनके एक बहिन थी। उस समय लड़कियों को स्कूलों में शिक्षा दिलाने की प्रथा नहीं थी। उसे घर पर ही उनके पिता ने पढ़ाया था। हिन्दी में उसने अच्छी दक्षता प्राप्त कर ली थी। पिता की रूगणावस्था में वह हिन्दी पुस्तकें, विशेषकर योगवशिष्ठ पढ़कर उन्हें सुनाया करती थी। हरविलास शारदा अपने पिता की धर्मपरायणता व धार्मिक विचारों से प्रभावित थे। वह अपने पिता के अनुरूप ही धर्म एवं ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर हुए और दिनो–दिन उन्नति करते रहे। शारदा को अपनी

बहिन के प्रति अटूट प्रेम था। वे दोनों अपने माता–पिता के प्रति निष्ठावान थे। 1883 ई. में शारदा हाई स्कूल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। 1885 ई. में गवर्नमेन्ट कॉलेज अजमेर से उन्होंने इन्टर मीडीएट की परीक्षा पास की। अंग्रेजी, दर्शन शास्त्र और फारसी विषयों से 1888 ई. में आगरा कॉलेज से बी.ए. की डिग्री प्राप्त की थी। इसके साथ ही अंग्रेजी में आनर्स डिग्री भी ली थी। आनर्स की परीक्षा में कलकत्ता विश्वविद्यालय में उत्तर प्रदेश के उत्तीर्ण विद्यार्थियों में उनका प्रथम स्थान था। उनकी आकांक्षा थी कि वह इंग्लैण्ड में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त करें और साथ में कानून की डिग्री भी लें। परन्तु पिता की वृद्धावस्था एवं अस्वस्थता के कारण वह इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान नहीं कर सके। अप्रेल 1892 ई. में उनके पिता का देहान्त हो गया। इसके बाद उनकी माता और बहिन का भी स्वर्गवास हो गया।

शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद 1889 ई. में शारदा गवर्नमेन्ट कॉलेज अजमेर में कुछ समय के लिये वरिष्ठ अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। 1892 ई. में ब्रिटिश शासित अजमेर मेरवाड़ा प्रदेश में वह न्यायिक विभाग में स्थानान्तरित कर दिया गया। 1894 ई. में उन्हें विशिष्ट पद पर नियुक्त कर अजमेर विनियम सम्बन्धी पुस्तक के संशोधन का कार्य करने को कहा गया। इस कार्य के सम्पन्न होने के पश्चात् उन्हें विदेश विभाग में स्थानान्तरित कर दिया गया। वे जैसलमेर के महारावल का संरक्षक शिक्षक नियुक्त हुए। इस पद पर 1902 ई. तक कार्यरत रहे। इसके बाद उन्हें पुनः न्यायिक विभाग में बदल दिया गया। कुछ समय के लिए वह अजमेर में सहाय कमिश्नर तथा उप–न्यायाधीश के पदों पर कार्यरत रहे। इसके बाद छोटे–मुकदमें सुनने के लिए अजमेर में उन्हें न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। 1923 ई. में

उन्होंने अजमेर–मेरवाड़ा में अतिरिक्त जिला व सेशनस न्यायाधीश के पद पर भी कार्य किया था।[55]

आर्य समाज और हरविलास शारदा :

हरविलास शारदा के पिता धर्मनिष्ठ प्रवृति के व्यक्ति थे। वह साधु–सन्तों के पास प्रायः जाते रहते थे। जब कभी विद्वान सन्यासी का अजमेर में आवास होता था तब हरनारायण शारदा अपनी आध्यात्मिक पिपासा को तृप्त करने तथा सत्संग के उद्देश्य से उसकी सेवा मे अवश्य उपस्थित होते थे। उनका पुत्र हरविलास शारदा अभी किशोरवस्था में था फिर भी वह अपने पिता के साथ साधु–सन्तों के दर्शनार्थ जाया करता था। हरविलास शारदा मात्र आठ वर्ष की आयु के थे तब वह अपने पिता के साथ आर्य समाज के संस्थापक ख्याति स्वामी दयानन्द सरस्वती के अजमेर आगमन पर 1875 ई. में उनसे मिलने गये थे। स्वामी जी भारत में उभरते हुए सांस्कृतिक आत्माभिमान के प्रतीक थे। उन्होंने भारतीयों में आत्मविश्वास जागृत किया तथा उन्हें अपने देश, संस्कृति और धर्म पर गर्व करने का सन्देश दिया। उनका कहना था कि हिन्दू समाज में स्त्रियों को उचित स्थान दिया जाये। स्त्री शिक्षा को उन्होंने मूल विषय बनाया। पर्दा–प्रथा व बाल–विवाह के कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि सोलह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह अनुचित है। वे विधवा विवाह के भी पक्ष में थे। समाज सुधारक परमज्ञानी दयानन्द सरस्वती की वाणी में उग्रता थी, चुनौति थी और ललकार की शक्ति थी। उनके ओजपूर्ण प्रवचनों और उनकी विलक्षण बुद्धि से प्रभावित होकर लाखों की संख्या में लोग उनके अनुयायी बन गये। स्वामी के विचारों की सर्वत्र चर्चा होने लगी। सुदृढ़ वैदिक आधार पर सामाजिक, धार्मिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। बालक

हरविलास शारदा भी स्वामी के व्यक्तित्व के अत्यधिक प्रभावित हुए। स्वामी जी के अजमेर आवास के समय शारदा उनके प्रवचन सुनने को सदैव उपस्थित रहते थे। वह स्वामीजी के अनन्य भक्त बन गये। स्वामी जी के विचारों को उन्होंने ह्रदयांगम किया। इन्हीं विचारों को आधार बनाकर शारदा ने अपने जीवन में स्त्री–समाज को ऊँचा उठाने का बीड़ा उठाया था।[56]

स्वामी दयानन्द ने अनुभव किया कि सामाजिक व धार्मिक पुनरूत्थान के लिए सामूहिक प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए एक संगठन की नितांत आवश्यकता है। अतः उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वामी जी 1875 ई. में आर्य समाज की स्थापना की। देश के विभिन्न भागों में इसकी शाखाएं खोली गई। आन्दोलन जोर पकड़ता गया। अजमेर आर्य समाज का प्रमुख केन्द्र बन गया। हरविलास शारदा भी आर्य समाज के सक्रिय सदस्य थे। अजमेर में इसे गति देने में शारदा का बड़ा योगदान रहा। आर्य समाज के प्रति उनकी सेवाएं अटूट रहीं। 1883 ई. में स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्वर्गवास हो गया। स्वामी जी के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए शारदा ने एकजुट होकर निरन्तर प्रयास किया। 1888 ई. में वे अजमेर समाज के अध्यक्ष बने तथा राजपूताना आर्य समाज की प्रतिनिधि सभा का भी उन्हें अध्यक्ष चुना गया। 1890 ई. में वह परोपकारिणी सभा का सदस्य बने। इसका गठन स्वामीजी की वसीयत के अनुसार हुआ था। इस समिति में कुल 23 सदस्य थे। इसका मूल उद्देश्य स्वामी जी द्वारा किये गये कार्यों को आगे बढ़ाना और उनके विचारों को मूर्तरूप देना था। आर्य समाज के संगठन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने का दायित्व भी इस समिति का था। 1894 ई. में शारदा इस समिति के संयुक्त सचिव बने। इनका कार्यालय पहले उदयपुर में था। अब इसे अजमेर लाया

गया। पांडया मोहनलाल द्वारा सचिव पद से इस्तीफा देने के पश्चात् शारदा ने सचिव पद भार संभाला। शारदा दीर्घकाल तक सचिव पद पर कार्यरत रहे।[57]

अजमेर में स्थित दयानन्द आश्रम की एक शाखा के रूप में हरविलास शारदा ने डी. ए. वी. स्कूल का शुभारम्भ किया। वे इसके संस्थापक सदस्य थे और वे स्कूल समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1925 ई. में दयानन्द जन्म शताब्दी समारोह बड़े धूमधाम से मथुरा में सम्पन्न हुआ। इसे आयोजन में शारदा का प्रमुख योगदान था। 1933 ई. में स्वामीजी की मृत्यु के पचास वर्ष व्यतीत होने पर अजमेर में अर्द्ध शताब्दी का आयोजन किया गया। शारदा इस आयोजन के सचिव थे।[58]

हरविलास शारदा ने आर्य समाज के सिद्धान्तों को समझा, अपनाया, मनन किया और उनका प्रचार किया। उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति गर्व था। उनमें सामाजिक सुधारों के लिए उमंग व उत्साह था और हिन्दू जाति के प्रति अगाध प्रेम। स्वामी दयानन्द शारदा के लिए प्रेरणा पुंज थे। इतना होने पर भी शारदा असहिष्णु नही थे। वह आर्य समाज के उग्र रूप के पक्षपाती नहीं थे। उनमें आक्रामक प्रवृति का अभाव थां वह सदैव सत्य का अनुसंधान करता था। वे संकीर्णता से ऊपर उठकर खुले दिल से बात करते थे। उनका दृष्टिकोण मानववादी थां उन्होंने आर्य समाज के उस स्वरूप का प्रतिपादन किया जो सभी के लिए रूचिकर और कत्याणकारी था। उनके सामाजिक सुधार का समर्थन किया, शिक्षा के विकास को नयी दिशा दी तथा समाज के कमजोर वर्गो के ह्रदय में आशा की किरण प्रस्फुटित की और उनमें आत्म विश्वास की भावना जागृत की।[59]

सामाजिक गतिविधियाँ :

सामाजिक क्षेत्र में शारदा ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये थे। देश की अनेक सामाजिक संस्थाओं से संबद्ध रहे। 1925 ई. में अखिल भारत वैश्य सम्मेलन का अधिवेशन बरेली में सम्पन्न हुआ था, हरविलास शारदा ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। समाज सुधार आन्दोलन के मुख्य प्रणेता महादेव गोविन्द रानाडे ने 1887 ई. में राष्ट्रीय समाज सुधार समिति की स्थापना की थी। इसका सम्मेलन प्रतिवर्ष देश के अलग–अलग क्षेत्रों में होता था। कई दशकों तक यह समिति राष्ट्रीय सामाजिक सुधार की योजना पर विचार करती रही। यह संस्था भारत में समाज सुधार सम्बन्धी संस्थाओं में प्रमुख थी। इसका 42 वां अधिवेशन 1930 ई. में लाहौर में होना निश्चित हुआ। हरविलास शारदा को इसका अध्यक्ष निर्वाचित किया गया था। वस्तुतः यह सम्मेलन 26 दिसम्बर, 1929 ई. को लाहौर में सम्पन्न हुआ। 1933 ई. में शारदा को अजमेर म्युनिसिपल प्रशासन इन्क्वायरी समिति का सदस्य बनाया गया। 1934 ई. में नयी म्युनिसिपल समिति के वे वरिष्ठ उप सभापति निर्वाचित हुए।[60]

बाल विवाह निरोधक अधिनियम जो शारदा एक्ट के नाम से भी प्रसिद्ध है, के फलस्वरूप हरविलास शारदा का नाम देश के सामाजिक इतिहास में अमर हो गया है। शारदा का सम्पूर्ण जीवन समाज सुधार विशेषकर स्त्री समाज के उत्थान के लिए समर्पित था। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे, महर्षि दयानन्द, ज्योतिराव फुले और महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों के प्रणेताओं की श्रृंखला में हरविलास शारदा का नाम भी जुड़ा हुआ है। शारदा की सामाजिक उपलब्धियों का निरूपण करने के पूर्व हम उन परिस्थितियों का अवलोकन करेंगे जिनके कारण भारतीयों के मन में समाज सुधार के प्रति स्फुरण का उद्‌भव हुआ। भारतीय इतिहास में 19वीं शताब्दी का विशेष महत्व इसलिए माना जाता है कि यह

सदी भारत में मध्य युग और आधुनिक युग के बीच विभाजन रेखा है। कहा जाता है कि गहन अन्धकार के बाद उजाले का प्रादुर्भाव है।

राजा राममोहन राय भारतीय नव जागरण के अग्रदूत और जनक थे। नव जागरण की धारा को प्रवाहित करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की तथा सती प्रथा के उन्मूलन के लिए अभियान चलाया। परिणामतः 1829 ई. में भारत सरकार ने एक अधिनियम बना कर सती प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। राममोहन राय ने स्त्रियों को समाज में उचित स्थान दिलाने के लिए संघर्ष किया एवं बाल विवाह का विरोध किया। इस प्रकार राम मोहन राय ने स्त्री समाज के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी दयानन्द ने सामाजिक सुधारों के लिए आह्वान किया। उन्होंने स्त्री समाज के उत्थान के लिए कार्य किया। हिन्दू समाज में स्त्रियों को सम्मानित स्थान दिलाने तथा उन्हें पुरूषों के समान ही सभी अधिकार प्राप्त करवाने के लिए प्रचार किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर अधिक बल दिया। साथ ही उन्होंने पर्दा प्रथा का विरोध किया। दयानन्द ने बाल विवाह, बहु विवाह तथा बेमेल विवाह की भर्त्सना की थी। वे विधवा विवाह के समर्थक थे। हरविलास शारदा ने स्वामी जी के पद चिन्हों का अनुसरण किया था।

जिस प्रकार बंगाल में 19वीं शताब्दी के समाज सुधारकों में राजा राममोहन राय, पंडित ईश्वरचन्द विद्यासागर महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानाडे एवं ज्योतिराव फुले गुजरात में दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी ने नारी उत्थान के लिए जो कार्य किये उन्हीं के पद चिन्हों पर चलकर राजस्थान में समाज सुधारकों की परम्परा में हरविलास शारदा का भी कम महत्व नही है।

उनका सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा। शारदा का मत था कि स्वस्थ समाज के लिए राजनीतिक एवं सामाजिक सुधारों का होना अत्यन्त आवश्यक है। समयानुकूल व बदलती हुई परिस्थितियों में सामाजिक, पारस्परिक सम्बन्धों में निरन्तर समायोजन की प्रक्रिया होती रहे तो समाज स्वतः ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहेगा। बुद्धिमान व्यक्ति सदैव सुधारों के पक्ष में रहता है। जिस प्रकार मानव के जीवन में परिवर्तन आता है उसके कार्य रीति–रिवाज, परम्परा व दृष्टिकोण में भी अन्तर आता रहता है। शारदा ने कहा कि परिस्थितियाँ बदल गई है, जीवन के माप–दण्ड में परिवर्तन आ गया है। आज भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। समाज की प्रगति अवरूद्ध हो गई है। भारतीयों के आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर विदेशी प्रभाव पड़ रहा है और उनका सर्वत्र शोषण हो रहा है। शारदा ने अतीत का विश्लेषण करते हुए कहा कि पुराने काल में सामाजिक व्यवस्था स्फुर्तियुक्त, प्रफुल्ल, सजीव व लचीली थी। प्राचीन काल में जाति प्रथा में कट्टरता नहीं थी। जाति का आधार गुण, कर्म और स्वभाव था। सभी जातियाँ समाज में गुंथी हुई थी और वे एकत्व में समाई हुई थीं। उनमें पूर्ण रूप से समायोजन था। शारदा ने जो अतीत का विशेषण किया है उसका यह अर्थ नहीं था कि वह हमें पुनः अतीत की ओर ले जाने के लिए इच्छुक है। उनका कथन है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में समाज में सजीवता, स्फूर्ति और लचीलापन था और समयानुकूल परिवर्तन सहज ही में किया जा सकता था उसी प्रकार आज का समाज जो विभिन्न प्रकार की कुरीतियों और विसंगतियों से ग्रसित है, उसमें परिवर्तन लाना अपरिहार्य हो गया है हिन्दू समाज में स्त्रियों की दुर्दशा की तरफ शारदा का ध्यान आकर्षित हुआ।[61]

संदर्भ ग्रंथ

1. धनंजय कीर – महात्मा ज्योतिबा फुले, दी फादर ऑफ इण्डियन सोशल रिवोल्यूशन, पापुलर प्रकाशन बोम्बे, 1964, पृ.सं. 6, 7

2. प्र.म. बादिवडेकर, महात्मा फुले और समकालीन समाज व्यवस्था, फुले साहित्य और विचार, महाराष्ट्र शासन मुम्बई, 1993, पृ.सं. 171

3. नारायण सिंह राव – रूरल इकोनोमी एण्ड सोसायटी ऑफ साउथ, ईस्टर्न राजस्थान, ड्यूटिंग द एन्सियेन्ट सेन्चुरी, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, जे.एन.यू. नई दिल्ली, 1991

4. डी.के. खापर्डे – आधुनिक भारत की सामाजिक सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रणेता, महात्मा ज्योतिराव फुले, बहुजन पब्लिकेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1990, पृसं. 11

5. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा – ब्यूरोक्रेसी इन राजस्थान, बीकानेर 1981 प्रस्तावना, पृ.सं. 11–21

6. इफ्तिदार आलम खान, मिडल क्लास इन मिडीवल इण्डिया हिस्ट्री कांग्रेस, अध्यक्षीय उद्‌बोधन, सैक्शन बी, 1975

7. सतीश चन्द्रा – मिडीवल इण्डिया – सोसायटी द जागीरदारी क्राइसिस एण्ड द विलेज, दिल्ली, 1982, पृ.सं. 21–28

8. बी.एल. भदानी – पीजेन्ट्स एण्ड एण्टरप्रीन्योरस, अलीगढ़, 1999, पृ.सं. 115–117

9. बृजलाल वर्मा – महात्मा ज्योतिबा फुले, भावना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978, पृ.सं. 89

10. हबीब व निजामी, ए कम्प्रहेन्सिब हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1992, पृ. सं. 162–163

11. कोटा भण्डार, नं.–1, बस्ता 30 से 53 तक, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर कागदो की बही, बीकानेर नं. 2 से नं. 10 तक, दस्तूर कौमवार, भाग 2 से 16 तक, जोधपुर हकीकत बही नं. 1 से नं. 4 तक, फुटकर वार्ता नं. 20617, अनुप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, अथवा ख्यात जोधपुर राव राजा रा दस्तूर री बही, चौपासनी शोध प्रतिष्ठान, जोधपुर, सूर्यमल्ल मिश्रण, वंश भास्कर भाग–2, जोधपुर वि.सं. 1956

12. एम.आई. राजस्वी – महात्मा ज्योतिराव फुले राजा पॉकेट बुक्स रोड़ बुराडी, दिल्ली, पृ.सं. 10

13. अकाल पीड़ितो की सहायता हेतु पत्र, 17 मई, 1877, ज्ञान प्रकाश, पत्र 24 मई, 1877

14. शतपथ ब्राह्मण, तैतरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, वृहस्पति अपराक आदि धर्मग्रन्थों में इसका उल्लेख हुआ है। डॉ. पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पूना, 1941, भाग–1, पृ.सं. 324

15. व्यास स्मृति, 253, दक्ष स्मृति – डॉ. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बनारस, 1946, पृ.सं. 365, डॉ. बुद्ध प्रकाश, सम

आसपैक्ट्स ऑफ हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, इलाहाबाद, 1956, पृ.सं. 34–35

16. खींची गगेव नीबावंत रो दोपहरो राजान राउतरो बात बगावत, राजस्थान पुरातन ग्रंथ माला, उदयपुर, ग्रन्थाक नं. 26, पृ.सं. 21

17. कोटा भण्डार नं. 1 वि.सं. 1755/1698 ई. वि.सं. 1813/1756 ई. का बस्ता राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, बस्ता नं. 30

18. राजलोक – राजा की मांजी, सभी रानियाँ आदि।

19. डॉ. महेन्द्र सिंह नगर, राणीमंगा भाटों की बही, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट दुर्ग जोधपुर, 2002, पृ.सं. 10–11

20. जोशी, तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री – ज्योतिराव फुले नेशनल बायोग्राफी, अनुदया अग्रवाल (अंग्रेजी) नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 1946, पृ.सं. 7

21. डॉ. अतर अली – नाबिलिटी अण्डर औरंगजेब, बम्बई, 1946, 1966, पृ. सं. 101

22. महाराजा तख्त सिंह री ख्यात परम्परा – सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, पृ.सं. 41

23. चन्द्रबली त्रिपाठी, भारतीय समाज में नारी आदर्शो का विकास, गोरखपुर, 1981, पृ.सं. 65

24. मधुमालती कथा, पृ. 74–87, डॉ. जी.एन. शर्मा, सोश्यल लाइफ इन मिडीवल राजस्थान, आगरा, 1968, पृ.सं. 266

25. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले महात्मा फुले चरित्र साधने प्रकाशन समिति महाराष्ट्र शासन, मुम्बई, 1993, पृ.सं. 23

26. डॉ. एल.जी. मेश्राम विमलकीर्ति – बुद्ध का दर्शन अम्बेडकर वाद का दार्शनिक आधार, संगीता प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.सं. 31

27. महात्मा फुले समग्र वाङ्मय (स.म. दि फडके) महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मण्डल, मुम्बई, 1991, पृ.सं. 93

28. सोम सौभाग्य काव्य, सर्ग 2 श्लोक 45–55, एकलिंग प्रशस्ति, श्लोक 91–96

29. थामस पेन – दी एज ऑफ रीजन – राइट्स ऑफ मैन, दिल्ली विश्वविद्यालय, पुस्तकालय पृ.सं. 75

30. समिधेश्वर लेख, वि.सं. 1485, दक्षिणा मूर्ति इंस्क्रिप्शन, वि.सं. 1770, डॉ. जी.एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास आगरा, 1973, पृ.सं. 117

31. कुवलय माला, पृ.सं. 312, उपमिति, 248, डॉ. जी.एन. शर्मा सोश्यल लाइफ इन मिडीवल राजस्थान, आगरा, 1968, पृ.सं. 267–68

32. जावर लेख, वि.सं. 1457, उपदेशमाला, वि.सं. 1457–995, पृ.सं. 80, अचलदास खींची री वाता पत्र 53, डॉ. जी.एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास आगरा, 1973, पृ.सं. 118–119

33. रामचरित सम्पूणी समाप्त, ग्रंथाक नं. 434 पृ.सं. 168 ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, उदयपुर।

34. राजकुमारी शिवपुरी, राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवाएं तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन, आगरा, 1965, पृ.सं. 351

35. पोर्टफोलियो फाइल, जोधपुर, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, नं. 21, विभिन्न पत्र, डॉ. शशि अरोड़ा, राजस्थान में नारी स्थिति, 1600–1800 ई., बीकानेर, 1981, पृ.सं. 96

36. रंगमहल उत्खनन, पृ. 160, रत्नावली पृ. 38, डॉ. जी.एन. शर्मा, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2009

37. एच.सी.ई. जकारिया – रैनेसॅन्ट इण्डिया, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1978, पृ. सं. 51

38. डी.पी. सिंघल – इण्डियन एण्ड वर्ल्ड सिवलाइजेशन वॉल्यूम–2, भारतीय विद्या भवन, बोम्बे 1969, पृ.सं. 289

39. हरिनरके, महात्मा फुले और साहित्य विचार, महात्मा फुले चरित्र साधने प्रकाशन समिति महाराष्ट्र शासन, मुम्बई, 1993, पृ.सं. 87

40. बी. आर. पुरोहित – आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2004, पृ.सं. 362–363

41. रानी लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत – सांस्कृतिक राजस्थान जयपुर, 1994, पृ. सं. 109

42. मरदुमशुमारी, राज मारवाड़, पृ. 51–52, डॉ. विक्रमसिंह राठौड, राजस्थान की संस्कृति में नारी, जोधपुर, 1994, पृ.सं. 129

43. पार्थ सारथी गुप्ता – यूरोप का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1994, पृ.सं. 123

44. डी. आर. जाटव – भारतीय समाज एवं विचारधाराएं, जयपुर, 1997, पृ. सं. 191

45. पी.एल. गौतम – आधुनिक भारत (1757–1947) राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1998, पृ.सं. 381

46. बृजकिशोर शर्मा – भारत का इतिहास (1750–1950) राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2005, पृ.सं. 546

47. हरदान हर्ष – स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवन और विचार, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2007, पृ.सं. 1

48. जवाहरलाल नेहरू – इतिहास के महापुरूष, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1983, पृ.सं. 162

49. पुखराज जैन – प्रमुख राजनीतिक विचारक, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1988, पृ.सं. 288

50. सी.एम. सरस्वती – आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चितंक, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1998, पृ.सं. 2

51. डॉ. जयश्री नीरज एवं डॉ. भगवती लाल शर्मा, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2009, पृ.सं. 144

52. नारायण सिंह भाटी – समाज रत्न हरविलास शारदा, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर, 1988, पृ.सं. 41

53. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल – भारतीय नारी विकास की ओर, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2009, पृ.सं. 144

54. शैलेन्द्र मौर्य – राजस्थान में महिला विकास प्रारम्भ से आज तक, राजस्थानी साहित्य संस्थान, जोधपुर, 2007, पृ.सं. 124

55. ''फुटकर वांता में ऐसे कई किस्से मिलते हैं, जिनसे राजस्थान की सभी वर्गों की नारी के पर्दे की स्थिति का आभास होता है'' – फुटकर वांता नं. 206/2, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर

56. अजमेर, गजेटियर, 1986, पृ.सं. 504–505

57. जगदीश सिंह गहलोत – राजस्थान के रीति–रिवाज, जोधपुर, 1960, पृ. सं. 222 अनिला कुमारी गंगवाल, जयपुर के प्रमुख त्योहार, लोकगीत, जयपुर, 1980, पृ.सं. 174–182

58. जोधपुर हकीकत बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, नु. 2 से नं. 10 पत्रांक 252–55, 299, पत्रांक 125, पत्रांक 84–85

59. दोवर्की पर्चाजात, कोटा भण्डार नं. 1, वि.सं. 1782/1725 ई. राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, बस्ता नं. 114

60. डॉ. शशि अरोड़ा – बीकानेर के ग्रामीण समाज में सगाई प्रथा एवं उसके टूटने के कारण, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग, 1974, अजमेर सैशन

61. जी.एन. शर्मा – सोश्यल लाइफ इन मिडिवल राजस्थान, आगरा, 1968, पृ.सं. 168

अध्याय चतुर्थ

शैक्षणिक क्षेत्र में योगदान – समाज सुधार का प्रथम सोपान

अध्याय चतुर्थ

शैक्षणिक क्षेत्र में योगदान – समाज सुधार का प्रथम सोपान

महात्मा ज्योतिराव फुले का शिक्षा के क्षेत्र में योगदान एवं राजस्थान और गुजरात में नारी शिक्षा का विकास विषय पर चर्चा करने से पहले हमें तत्कालीन शिक्षा क्षेत्र की स्थिति पर दृष्टिपात करना होगा। तभी हम महात्मा फुले एवं अन्य समाज सुधारकों द्वारा किये गये शैक्षिक योगदान का समीचीन आंकलन कर सकेगे।

मध्यकाल तक शिक्षा का यह स्वरूप नहीं था जैसा कि आज विद्यमान है। पहले शिक्षा उच्च वर्ग वालों को ही दी जाती थी। वे ब्राह्मणों द्वारा चलाई जाने वाली निजी पाठशालाओं में संस्कृत, व्याकरण, विधि, वैद्यक, धर्मशास्त्र और अंकगणित आदि आदि विषय पढते थे। निम्न जाति वालो को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं था।[1] महात्मा फुले ने अपनी पुस्तक 'गुलामगिरी' में लिखा है कि ब्राह्मण अध्यापकों को डर था कि यदि अस्पृश्यों का स्कूल में भर्ती कर लिया गया तो विद्रोह हो जायेगा। इसलिये अंग्रेजी सरकार को भी शिक्षा के सवाल को हल करने में कठिनाई हो रही थी।[2]

अतः उनको पाठशालाओं में कोई शिक्षा नहीं देता था। कुछ कस्बों में व्यापारियों और धनवानो के बच्चों को निजी पाठशालाओं में शिक्षा दी जाती थी, ताकि वे मुनीमगिरी, साहूकारी या व्यापार कर सकें। इस प्रकार सीमित उद्देश्य के लिए शिक्षा पाठशालाओं मे चलाई जाती थी। महिलाओं को शिक्षित करने की बात तो सोची ही नहीं जाती थी। ब्राह्मण ही नागरी लिपि का प्रयोग करते

थे, शेष लोग मोड़ी लिपि का प्रयोग करते थे। अंकगणित विषय पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इतिहास और भूगोल विषय पर कोई गौर नहीं किया जाता था। देवी–देवताओं की कथाओं पर काफी ध्यान दिया जाता था। हस्तलिखित ग्रंथ ही पुस्तक का कार्य करते थे। पाठ पढ़ाते समय विद्यार्थी एक स्वर से उच्चारण करते थे। अध्यापकों की आमदनी विशेष नहीं होती थी। अतः समाज के दुर्बल व्यक्ति ही अध्यापक का पेशा अपनाते थे। कहावत भी थी–मांग सके न भीख तो अध्यापक बनना सीख।'' पाठशाला अध्यापक के घर में चलती थी। कभी–कभी धनी लोग या जमींदार किसी मंदिर में भी पाठशाला आरम्भ करवा देते थे।[3] फुले को स्वयं शिक्षा अर्जन में जो भी कठिनाइयां उनको झेलनी पड़ी, उन्होंने उनको दलित एवं शोषित वर्ग को शिक्षा प्राप्त करने में होने वाली कठिनाइयां का अनुभव करवा दिया इसलिए उन्होंने दलित तथा शोषित वर्ग की शिक्षा में अपना सारा जीवन व्यतीत कर लिया।[4]

अंग्रेजों के शासन से पूर्व प्रजा को शिक्षा देने का दायित्व सरकार पर नहीं था। यह दायित्व उच्च वर्ग वालों ने अपने ऊपर ले रखा था। उन लोगों ने शिक्षा को धर्म से जोड़कर उसे स्वकेन्द्रित कर दिया था। इस प्रकार शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था और शिक्षा देने की व्यवस्था भी उच्च वर्ण वालों के ही हाथ में थी। छोटी जातियों को शिक्षा से पूर्णतया वंचित रखा गया था। इन छोटी जातियों को धर्मविषयक ग्रन्थों को पढ़ना तो दूर उनको छूना भी पाप कर्म समझा जाता था। अगर भूलवश भी ये ग्रन्थ किसी तरह निम्न वर्ग वालो के संसर्ग में आ जाये तो उन्हें अपवित्र मानकर उनकी शुद्धि का विधान इन धर्म के ठेकेदारों ने कर रखा था। ग्रन्थ को पढ़ने या छूने वाले छोटी या निम्न

जाति के ऐसे व्यक्ति को प्रताड़ित किया जाता था।[5] जिसने धर्मग्रन्थ को पढ़ने या छूने की चेष्टा की हो।

महात्मा फुले और दयानन्द सरस्वती के समय या उससे पूर्व शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार भारतीय समाज में इस प्रकार दो वर्गों में बंटा हुआ था। एक वर्ग जो उच्च जातियों का था वह तो शिक्षा ग्रहण कने का अधिकारी था और दूसरा जो निम्न जातियों का वर्ग था वह शिक्षा ग्रहण करने के अधिकार से वंचित थां शिक्षा व्यवस्था पर विचार करें तो हम देखते हैं कि आजकल की तरह उस समय विद्यालय नहीं हुआ करते थे। पहले के शिक्षक जिन्हें शास्त्री कहा जाता था, वे उन स्थलों पर पाठशालायें चलाते थे। जहां उच्च जाति के लोगों की बस्तियाँ होती थी। ग्रामीण क्षेत्र में भी कहीं–कहीं इक्का दुक्का प्राथमिक पाठशालायें हुआ करती थी, जहां केवल उच्च वर्ग की सन्तानें ही शिक्षा ग्रहण किया करती थी।

तत्कालीन अंग्रेज सरकार को शासन–संचालन के लिए कुछ ऐसे सामान्य शिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता थी जो उनके अधिकारियों के अधीन रहकर शासन तन्त्र को चलाने में सहयोग कर सकें। इसके लिए अंग्रेजी सरकार ने प्रथम बार यह महसूस किया कि शिक्षा का प्रचार सर्वत्र हो। इस प्रकार सर्वप्रथम ''सन् 1813 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने यह आदेश जारी किया कि भारत के राजस्व में से प्रत्येक वर्ष की बचत से कम से कम एक लाख रूपयों की रकम अलग रखी जावे और उसका उपयोग भारत के प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए और उसका विकास करने तथा अध्यापकों को प्रोत्साहन देने तथा भारतीय नागरिकों को शास्त्र ज्ञान देने तथा उसके प्रसार के लिए किया जाना चाहिए।''[6] अतः तब भारत में पहली बार

शिक्षा के द्वार सभी लोगों के लिए खुल गये और एक नये समाज के निर्माण और उसके विकास के लिए शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। प्राच्य शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहन देने के लिए वार्षिक अनुदान की रकम छात्रवृति के रूप में दी जाने लगी इसका लाभ केवल ब्राह्मण लोग ही उठाते थे।

शिक्षा के द्वार सभी लोगों के लिए खुलने के कारण ब्राह्मण भूदेव बहुत नाराज हो गये। पूणे के ब्राह्मण डर और क्रोध के कारण थर–थर कांपने लगे। उन्होंने सरकारी नीति का घोर विरोध किया और ब्राह्मण अध्यापकों ने ब्राह्मणोतर छात्रों को संस्कृत पढ़ाने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उनका कहना था कि धर्मशास्त्र के अनुसार ब्राह्मणेत्तरों को संस्कृत पढ़ने का अधिकार न था।[7]

जहाँ एक और ब्राह्मणों को ब्राह्मणेत्तरों की शिक्षा से परहेज था वहीं अंग्रेजी सरकार भी यह नहीं चाहती थी कि आम भारतीय उच्च शिक्षा प्राप्त कर बड़े–बडे पदों पर आसीन हो सके, इसलिए अंग्रेजी सरकार ने जो सरकारी खर्च से पूर्ण जिले के कुछ कस्बों में पाठशाला खोली वे प्राथमिक स्तर की ही थीं तथा माध्यमिक शिक्षा की सामान्य स्तर की पाठशालयें मिशनरियों के द्वारा खोली गई थी।

इसी तरह उत्तर भारत में गुजरात एवं राजस्थान में बहुत थोड़ी जगह छोटी छोटी पाठशालयें थी जहां राजाओं की संताने ही शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। गुजरात एवं राजस्थान में भी शिक्षा का वहीं स्तर था जैसा कि महाराष्ट्र में था।

इस प्रकार तत्कालीन सरकार द्वारा सामान्य स्तर तक की माध्यमिक शिक्षा देने का प्रयास किया गया। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेजी सरकार ने जो विद्यालय खोले उनमें सैद्धान्तिक रूप से तो भारत के समस्त वर्गों के लिए शिक्षा के द्वार खुले थे लेकिन उनका प्रयास यही रहता था कि इन विद्यालयों में केवल उच्च वर्ग या जातियों के लोगों के बच्चे ही प्रवेश लें और शिक्षा प्राप्त करें। वह उच्च वर्ग के लोगों की तुष्टि के लिए ऐसा कर रही थी, क्योंकि वह वर्ग ही भारत में ऐसा वर्ग था जिसकी संतुष्टि के बिना अंग्रेज सरकार की जड़े गहराई तक नहीं बैठ सकती थी। अंग्रेजी सरकार की इस नीति के परिणामस्वरूप इन विद्यालयों में भी विद्यार्थियों के दो वर्ग हो गये थे, उच्च वर्ग के विद्यार्थियों द्वारा निम्न वर्ग के विद्यार्थियों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता था। विद्यालय प्रशासन या सरकार इसको नजर अन्दाज करते थे। अंग्रेजों को डर था कि अगर निम्न वर्ग या जातियों के बच्चों की संख्या विद्यालयों में बढ़ने लगी तो उच्च वर्ग इन विद्यालयों में अपने बच्चों को दाखिल नहीं करायेगें। दूसरा यह भी था कि अगर निम्न जातियों के बच्चे पढ़लिखकर आगे बढ़े तो वे उच्च पद प्राप्त करने लगेगें और शासन तन्त्र के अधिकारों को प्राप्त करने लगेंगे। इस प्रकार तो शिक्षा और शासन का दबदबा ही समाप्त हो जायेगा।[8]

इस प्रकार उच्च वर्ग अंग्रेजी सरकार से विमुख हो जायेगा और अंग्रेज यह नहीं चाहते थे। इसलिए तत्कालीन सरकार ने अधिकारियों को स्पष्ट निर्देश दिये गये कि उच्च वर्ग के छात्रों को प्राथमिकता से विद्यालयों में प्रवेश दिया जाये। इसके अलावा सरकार ने उस समय शिक्षा प्रसार के लिए जितनी

धन राशि दी थी वह बहुत कम थी, उसके द्वारा शिक्षा प्रसार का कार्य सुचारू रूप से सम्भव नहीं था।[9]

इस नीति का परिणाम यह हुआ कि निम्न वर्ग शिक्षित होने से उच्च वर्ग की अपेक्षा पिछड़ने लगा। जो आर्थिक सहयोग शिक्षा के लिए सरकार द्वारा दिया जा रहा था, उसका सम्पूर्ण लाभ केवल उच्च वर्ग ही उठाने लगा। इसका भी एक कारण था कि तत्कालीन शिक्षा परिषद में सदस्यों के रूप में अधिकतर कट्टरपंथी उच्च वर्ग के ठेकेदार के रूप में कार्य कर रहे थे जो नहीं चाहते थे कि निम्न जातियों के बच्चे शिक्षित होकर उनके बराबर खड़े हो सकें। इन ठेकेदारों ने दबाव डालकर तत्कालीन शिक्षा परिषद से यह संकल्प पारित करवा लिया कि परिषद द्वारा संचालित विद्यालयों से निम्न वर्ग के बच्चों को निकाल दिया जाये और अगर परिषद यह करने में असफल रही तो उच्च वर्ग अपने बच्चों को इन विद्यालयों से निकाल लेगा।

परिणामस्वरूप सन् 1826 में निम्न वर्ग के ऐसे बहुत से छात्र जो पढ़ने में तेज और होशियार थे तथा उच्च पढ़ाई की ओर अग्रसर थे, उन्हें परिषद द्वारा लगाया गया यह प्रतिबन्ध ज्यादा दिन नहीं चल पाया। उसे यह प्रतिबन्ध हटाना पड़ा।[10]

भारत में शिक्षा–प्रसार की जो मुहिम उस समय चली उनमें कई ऐसे प्रयास थे जो क्षेत्रीय सरकारो तथा समाज के संगठनों द्वारा किये गये जिससे भारतीय समाज में शिक्षा का प्रसार बढ़ने लगा। उन प्रयासों की कड़ी के रूप में बम्बई सरकार द्वारा खोली गई पाठशालायें, तथा संगठित सामाजिक संस्था ''बाम्बे नेटिव एजूकेशन सोसायटी'' आदि थी। गुजरात और राजपूताना में भी

महाराष्ट्र विधान–सभा भवन, मुम्बई के अहाते में स्थित महात्मा फुले की प्रतिमा

आर्य समाज द्वारा एवं अंग्रेजी सरकार द्वारा कुछ स्थानों पर ऐसी संस्थाओं का प्रारम्भ हुआ।

''सन् 1820 में ''बाम्बे नेटिव एजूकेशन सोसायटी द्वारा कुछ पाठशालायें खोली गई तब सन् 1821 में सरकार द्वारा पूणे में एक हिन्दू कॉलेज की स्थापना की गई, जिसे संस्कृत पाठशाला भी कहा जाता था। इस संस्था में सन् 1851 तक ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातियों को प्रवेश नहीं दिया जाता था। कालान्तर में यही पाठशाला 'पूणे कॉलेज' के रूप में जानी जाने लगी तथा अन्य जातियों के छात्रों को भी यहां प्रवेश मिलना प्रारम्भ हो गया।''[11] ज्योतिबा फुले के समय में निम्न वर्गो को शिक्षा देने ब्राह्मण वर्ग जबरदस्त विरोध करता था।[12] समय परिवर्तनशील है। समय ने करवट ली, समय की मांग परिवर्तन चाह रही थी अतः कुछ समय पश्चात् 1840 में बाम्बे नेटिव एजूकेशन सोसायटी और सरकारी विद्यालयों का एकीकरण करके 'शिक्षा परिषद' का पुनर्गठन किया गया और एक ठोस शुरूआत शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में की गई जिसके परिणामस्वरूप अब निम्न जाति वर्ग के लिए शिक्षा के द्वार खुलने लगे।[13]

1. ज्योतिबा की शिक्षा

ऐसी परिस्थितियों में माली जाति में जन्में बालक ज्योतिबा ने भी विद्यालय में प्रवेश लेकर जीवन की शुरूआत की यह बालक अपनी विलक्षण बुद्धि, तर्कशक्ति, होशियारी तथा दृढ़ स्वभाव के कारण शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति करने लगा। इनकी शिक्षा के दौरान कई व्यवधान आए। लोगों ने इनके पिता को भ्रमित कर इन्हें विद्यालय से एक बार पृथक कर दिया। तब ये अपने जातीय कार्य में हाथ बांटने लगे, लेकिन मन तो पढ़ाई के प्रति झुका था, पढ़ने

में उनकी रूचि जरा सी भी कम नहीं दिखाई पड़ रही थी। वे रात को समय निकाल कर, टिमटिमाते दीपक की रोशनी में पढ़ाई करते थे। उनके इस रूझान को देखकर ज्योतिबा के पड़ौसियों श्री गफ्फार बेग, जो उर्दू और फारसी के अध्यापक थे तथा श्री लिजीट साहब ने जो ईसाई पादरी थे, इनके पिता गोविन्दराव जी को समझाया कि ज्योतिबा एक होनहार एवं परिश्रमी बालक है, इसे अशिक्षित रखकर आप इस बालक के साथ अन्याय कर रहे हैं। यद्यपि इनके पिता ने तर्क दिया कि हमारा समाज निम्न जाति वर्ग में आता है और हिन्दू धर्म में निम्न जाति वर्ग शिक्षा देने और पाने दोनों के अधिकार से वंचित हैं। इसलिए हमें अपने समाज का कोप–भाजन बनना पड़ सकता है, लेकिन मुंशी गफ्फार बेग ने कहा कि, ''हमारे मजहब में तो हर मुसलमान औरत–मर्द को कुरान पढ़ने का बराबर का हक है।'' मुंशी जी के इस तर्क में वजन देखकर तथा लिजीट साहब द्वारा भी बहुत अधिक प्रोत्साहित करने पर गोविन्दराव जी ने एक बार फिर ज्योतिबा को विद्यालय में दाखिला दिला दिया। इस प्रकार सन् 1841 में स्काटिश मिशन की अंग्रेजी पाठशाला से उनके जीवन में फिर शिक्षा की अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। इस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के दौरान ज्योतिबा उच्च जातियों के लड़कों के सम्पर्क में ता नहीं आये, हां कुछ मुसलमान छात्र जरूर इन मित्रों द्वारा हिन्दू धर्म की आलोचना सुनकर इनके मन में विचार आया कि आखिर क्या ऐसी कमी है जिसके कारण हिन्दू धर्म की ये लोग इस तरह आलोचना करते है। उन्होंने अपने धर्म को गहराई में जाकर देखा और पाया कि वास्तव में हमारे धर्म में ऊँच–नीच का भेदभाव, अन्याय और रूढ़िवादित तथा स्वार्थपरता कूट–कूट कर भरी हुई है। उन्होंने विचार किया कि धर्म के आन्तरिक स्वरूप की जांच करना आवश्यक हैं। उन्होंने स्वयं ही एक जगह लिखा है कि– ''मैं अपने बचपन में

पास–पड़ौस मुसलमान मित्रों के सम्पर्क में आया, तब स्वार्थी हिन्दू धर्म के बारे में और उसमें मौजूद जाति भेदों आदि जैसी मिथ्या धाराणाओं के बारे में मेरे मन में सही विचार आने लगे। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।[15]

शिक्षा काल में ही ज्योतिबा के घर परिवार में उनकी शादी की चर्चा भी चलने लगी। उस समय भारतीय समाज में बाल–विवाह का प्रचलन था। ज्योतिबा भी इस परम्परा से वंचित नहीं रह सके और मात्र 13 वर्ष की अवस्था में ही उनकी शादी सावित्री नाम की लड़की से हो गई, जो दूर के रिश्ते में उनके मामा की लड़की थी। सावित्री की उम्र उस समय लगभग 9 वर्ष थी। यद्यपि उसकी बाल्यावस्था ही थी, लेकिन यह भी ज्योतिबा का सौभाग्य था कि उनकी पत्नी भावों और विचारों से बिल्कुल उनके अनुरूप थी। उन्होंने हर कदम पर अपने पति का मन–वचन–कर्म से भरपुर साथ दिया। ज्योतिबा के चरमोत्कर्ष में उनका पूरा हाथ रहा।[16]

शादी सम्पन्न हो जाने के बाद भी ज्योतिबा की शिक्षा में कोई व्यवधान नहीं आया और उनकी शिक्षा निरन्तर जारी रही। उनके जीवन में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि ज्योतिबा अपने अन्य सहपाठियों से तुलनात्मक दृष्टि से थोड़ा बड़े थे लेकिन उनकी पढाई की लगन ने तथा सदैव परीक्षण में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त करने के कारण वे अपनी मित्रमण्डली तथा सहपाठियों में अग्रस्थल पाने में सफल रहे।

मिशन की अंग्रेजी पाठशाला में अध्ययन के दौरान ही ज्योतिबा का परिचय उच्च जातियों के छात्रों के साथ हुआ। उन्हें समाज के विभिन्न वर्गों और जातियों के पारस्परिक संबंधों को जानने समझने का खूब अवसर मिला। विभिन्न सामाजिक स्तरों के अध्ययन का भी पर्याप्त समय उन्हें शिक्षा अध्ययन

के साथ ही मिलता गया। पढ़ाई के दौरान ही ब्राह्मण वर्ग के तीन सहपाठी श्री सदाशिव बल्लाल गोवडे, सखाराम यंशवत परांजपे तथा मोरापंत विट्ठल बालवेकर उनके अभिन्न मित्र बन गये। इन तीनों में और ज्योतिबा के विचारों में बहुत साम्य था। यही कारण रहा कि उनकी मित्रता दीर्घ अवधि तक बनी रही। बालवेकर और गोवडे तो अन्त तक उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर समाज शिक्षा और समाज–सुधार के कार्यक्रम में बने रहे। बालवेकर से तो इतना प्रभावित थे कि उन्होंने उनके विषय में एक जगह लिखा भी है कि, ''सद–सद्विवेकी सुबोध के दातागृहिणी के पिता ज्योति मित्र।''[17] उक्त विवरण से एक बात और स्पष्ट होती है कि ज्योतिबा ब्राह्मणवाद के विरोधी तो थे लेकिन ब्राह्मण विरोधी कतई नहीं थे। उन्हें किसी जाति विशेष के व्यक्ति से कोई परहेज नहीं था, लेकिन जातिवाद और ऊँच–नीच की भावना के वे सख्त विरोधी थे। उनका मानना था कि सभी प्राणी उस एक ईश्वर की संतान है फिर उनमें जाति–वर्ग–धर्म आदि का भेद क्यों? समाज में फैले भ्रष्टाचार, जातिवाद और ऊँच–नीच के भेद में ज्योतिबा और उनके इन तीन मित्रों के मन में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा को कम किया। अंग्रेजी शिक्षा के दौरान ईसाई पादरियों के आदर्श कार्यों ने तथा परिचमी साहित्य ने इनकों इतना प्रभावित किया कि इन लोगों ने सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया और अन्ततः निष्कर्ष निकाला कि सभी धर्मों में कुछ ऐसे आदर्श तत्व हैं जो श्रद्धापूर्वक मानने योग्य है। उन्हीं आदर्श तत्वों को जीवन में अपनाया जाये। ये है–ईश्वर एक है, उसी की पूजा–अर्चना की जाये। ईश्वर ने सभी प्राणियों को बनाया है, अपने इस कार्य में उसने किसी भी तरह का भेदभाव नहीं किया। जाति वर्ग, धर्म भेदभाव, सभी मानव बुद्धि की उपज हैं। इस भेदभाव को मानव समाज से हटाना ही ईश्वर पूजा है।

इसी कड़ी में गुजरात में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समाज में व्याप्त ऊँच–नीच, वर्ग व्यवस्था को समाप्त कर समाज में समानता स्थापित करने की अलख जगाई।[18] राजस्थान में तत्कालीन समाज में सामाजिक बुराईयाँ व्याप्त थी। जैसे सती प्रथा, बाल विवाह, देहज प्रथा, बन्धवा मजदूर, कन्या वध, त्याग प्रथा, जातिवाद आदि। इन सभी सामाजिक कुरूतियों को हटाना अति आवश्यक था। यह सामाजिक दोष केवल महाराष्ट्र, गुजरात एवं राजस्थान में ही नहीं था, बल्कि पूरे भारत में व्याप्त था।

मनुष्य के कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित ज्ञान उन्हें स्कॉटिश मिशन की अंग्रेजी पाठशाला में अपने अध्ययन के दौरान ही हो गया था। इसलिए गुलामी चाहे जैसी हो, धार्मिक या राजनैतिक, ज्योतिबा की नजर में वह घृणास्पद थी। यही कारण था कि विदेशी शासन के खिलाफ आवाज बुलन्द करने वाले वीरों की कहानी ने उनके तथा उनके मित्रों को स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रेरणा दी। इसी कारण उन्होंने लहूजी उस्ताद सालवे से सैनिक प्रशिक्षण लेने का भी निर्णय लिया था।[19] यह एक अनोखा संयोग ही था कि वासुदेव बलवन्त फडके, लोकमान्य तिलक और ज्योतिबा इन तीनों ने अपनी युवावस्था में लहूजी से ही तलवारबाजी, गतकाफरी और निशानेबाजी का प्रशिक्षण लिया था लहूजी से प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद ये लोग अंग्रेजों को देश से भगाने का सपना दिखाने लगे। लहूजी के इन तीनों शिष्यों ने अपने–अपने तरीकों से अंग्रेजी शासन की जड़े खोदना प्रारम्भ कर दिया। वासुदेव बलवन्त फडके ने अंग्रेजों के खिलाफ शस्त्र उठाये तो लोकमान्य ने सशस्त्र क्रान्ति को असंभव मानकर अंग्रेजों के खिलाफ लेखनी और वाणी से कार्य किया और ज्योतिबा ने सामाजिक क्रांति के कार्य को अपनाया।

ज्योतिबा को सामाजिक चिन्तन के दौरान जिस सामाजिक विषमता तथा अन्याय की अनुभमति हुई वह केवल शुद्र या अतिशूद्र तथा ब्राह्मणों के संबंधों तक ही सीमित नहीं थी। स्त्री–पुरूषों के बीच विद्यमान लिंग–भेद के कारण पुरूषों द्वारा स्त्रियों पर किया जाने वाला अत्याचार भी उनकी दृष्टि से अछूता नहीं रहा। उनकी दृष्टि में स्त्री भी पुरूषों के बराबर मानव अधिकारों की पात्र थी, परन्तु पुरूष प्रधान संस्कृति के बंधन के कारण स्त्री अपने इन मानवीय अधिकारों से वंचित थी। यह भी एक तरह एक सामाजिक अन्याय ही है। इसी विषय में ज्योतिबा ने लिखा है कि, ''लोभी पुरूषों ने इसी उद्देश्यों से स्त्रियों की शिक्षा पर रोक लगाई है कि उन्हें मानव अधिकारों का ज्ञान न हो।''[20]

ज्योतिबा का उद्देश्य केवल सामाजिक सुधार ही नहीं था वे तो एक वर्गहीन और शोषणमुक्त समाज चाहते थे। वे सामाजिक क्रांतिकरना चाहते थे। इसलिए उन्हें ''सामाजिक क्रांति का अग्रदूत कहा जाता है।''[21]

ज्योतिबा का मानना था कि इस परम्पराविधि हिन्दू समाज में शूद्र, अतिशूद्र और स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिये जाने से वे अज्ञानरूपी अंधकार में भटक गये हैं। और अपने आप को तथा अपने स्वत्व की सता को ही नहीं पहचान पा रहे है। इसलिए जब तक इन वर्गों को शिक्षित नहीं किया जाता तब तक ये जागृत नही हो सकेंगे। इनकी जागृति के बिना सामाजिक क्रांति संभव नहीं है इसलिए उन्होंने इन दोनों वर्गों को शिक्षित कर उनका उद्धार करने का संकल्प किया।

2. स्त्री शिक्षा का संकल्प

प्राचीन काल से ही नारी वर्ग और दलित वर्ग शोषण का शिकार होता रहा है। इन दोनों वर्गों को शिक्षित किये बिना ज्योतिबा की सामाजिक क्रांति

का सपना पूरा होना संभव नहीं था, इसलिए उन्होंने इन्हें शिक्षित करने के कार्यक्षेत्र में पदार्पण करने का संकल्प लिया, लेकिन समस्या यह थी कि इनमें से पहले किसे शिक्षित किया जाये? इस पुण्य कार्य को करने के लिए उन्होंने काफी सोच–विचार कर निर्णय लिया कि अगर नारी वर्ग को पहले शिक्षित किया जाये तो दोनों कार्य एक साथ सम्पन्न होने लगेंगे। क्योंकि उनका मानना था कि जब तक समाज की स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होगी, तब तक शिक्षित और सुसंस्कृत समाज की कल्पना करना व्यर्थ है। आदिकाल से ही माना जाता है कि माता ही बालक की प्रथम गुरू होती है, वह जैसी शिक्षा और संस्कार बच्चों को देगी बच्चे उसी को सीखेंगे और वही शिक्षा व संस्कार घर–परिवार और समाज में दिखाई देगें। अतः सुसंस्कृत समाज के लिए सर्वप्रथम नारी को शिक्षित करना अनिवार्य है। इससे जहां नारी शिक्षित होगी वहीं दलित वर्ग भी शिक्षित करना अनिवार्य है। इससे जहां नारी शिक्षित होगी वहीं दलित वर्ग भी उत्थान की राह पर कदम रख सकेगा इसीलिए उन्होंने सबसे पहले कन्या पाठशाला खोलने का निर्णय लिया।[22] ज्योतिबा ने जब प्रथम कन्या पाठशाला खोली तो कट्टरपंथियों और धर्म के ठेकेदारों का खून खौल उठा। उनका मानना था कि महिलाओं को शिक्षा देना घोर पाप है। उनकी दृष्टि में स्त्रियाँ स्वभाव से दुष्ट, चंचल और विवेकहीन होती है। उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। यदि स्त्रियों को शिक्षित किया जाय तो वे कुमार्गगामी बन जायेगी, घर परिवार का सुख–चैन हराम कर देंगी। लेकिन ज्योतिबा ने स्त्री शिक्षा के लिए विरोधियों के विचारों की ओर ध्यान नहीं दिया वे अपने फैसले पर दृढ़ रहे और उसका परिणाम भी उन्हें सकारात्मक मिलने लगा। पाठशाला में छात्राओं की संख्या बढ़ने लगी। उन्होंने अपनी पत्नी को घर पढ़ाया और पाठशाला में एक शिक्षिका के रूप में स्थापित किया।[23]

पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ से ही हमारे भारतीय समाज से शिक्षिकाओं का अस्तित्व लगभग मिट गया था। सावित्री बाई के शिक्षिका के रूप में आने से हिन्दू महिला एक बार फिर सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हुई। ज्योतिबा द्वारा खोली गई सन् 1848 में प्रथम कन्या पाठशाला की पहले दिन की पहली घंटी ने भारत में नारी मुक्ति आन्दोलन का शंखनाद कर दिया। उस विद्यालय में पहले ही दिन नौ छात्रायें आई। विद्यालय की पहली नौ छात्राओं ने नारी शक्ति स्वरूप नव–दुर्गा की नौ देवियो का रूप धारण कर नारी शक्ति को जागृत करने की अलख जगा दी।

ज्योतिबा के विचार से मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। और मनुष्यों में भी नारी का स्थान श्रेष्ठ है। चूंकि जन्म से ही स्त्री और पुरूष स्वतंत्र है तो दोनों को ही अधिकार भी समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। उनके अधिकारों में लिंग–भेद के आधार पर किसी भी तरह की असमानता नहीं होने चाहिए।[24] यह हमारे देश का दुर्भाग्य ही है कि जिस देश में आदि शक्ति के रूप में नारी की कल्पना की गई हो और जहां उक्ति प्रचलित हो कि, ''यत्र नार्यस्तू पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।'' उस देश में नारी की स्थिति निम्न स्थिति पर पहुंच गई थी। वास्तव में जो समाज की निर्मात्री थी उसकी यह दशा देखकर ज्योतिबा बहुत द्रवित हुए। एक जहां दूसरे देशों अमेरिका आदि में स्त्रियाँ क्रान्ति की दिशा में अग्रसर थी, वहीं दूसरी और हमारे देश में पिछड़ी हुई थी। नारी अशिक्षा और अज्ञान वंश पुरूषों के अत्याचार सहते हुए गुलामी के बंधन में जकड़ी हुई थी।

अमेरिका मिशन के अहमदनगर स्थित विद्यालयों में बालिकाओं को किस तरह से शिक्षित किया जाता था। ज्योतिबा उस प्रकार की शिक्षा पद्धति से

बहुत ही प्रसन्न थे। लगभग उसी पद्धति को अपनाते हुए उन्होंने अपने द्वारा खोली गई कन्या पाठशाला में महार और मांग जातियों की लड़कियों को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया, साथ ही इनके अतिरिक्त अन्य वर्ग की बालिकाओं को जिन्हें शिक्षा में रूचि थी, उनके लिए भी प्रवेश खोल दिया। आपने अपने विद्यालय में अंकगणित और व्याकरण के मूलभूत सिद्धान्त जैसे विषय पढ़ाने के लिये चुने। उनको सदाशिवराव गोवडे नामक सहयोगियों ने तन, मन और धन से सहयोग दिया।[25]

उस समय पूर्ण कट्टरपंथियों का गढ़ माना जाता था। ज्योतिबा के विद्यालय में महार, मांग और चमार आदि शूद्र या अतिशूद्र समझी जाने वाली जातियों की लड़कियां पढ़ती थी। स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करना कट्टरपंथियों की दृष्टि में भ्रष्टाचार था। उस पर भी शुद्र या अतिशूद्र स्त्रियों को शिक्षा देना तो घोर भ्रष्टाचार का रूप था। वे इस महान पाप समझते थे। कट्टरपंथियों का मानना था कि शूद्रों को विद्याग्रहण का अधिकार नहीं है अतः यह कार्य भगवान, धर्म और समाजविरोधी कृत्य है। यही कारण था कि इन कट्टरपंथियों ने ज्योतिबा के इस कदम का कड़ा विरोध किया। उन्होंने ज्योतिबा पर हिन्दू धर्म पर कुठाराघात करने वाला 'धर्मविरोधी' और लड़कियों को पुरूषों द्वारा पढ़ाये जाने के कारण सामाजिक अपराधी, की संज्ञा का आरोप लगाया।[26]

स्त्री शिक्षा के कार्य में ज्योतिबा को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। उन पर अत्याचार किये गये। उनके जाति बंधुओं के जरिये कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने उनके पिता गोविन्द राव तक यह धमकी पहुंचायी कि तुम्हें तुम्हारे कृत्यों के फल भुगतने होंगे। सामाजिक दबाव पड़ने पर गोविन्दराव ने ज्योतिबा को समझाया। तब उन्होंने अपने उस महार, मांग बालिका विद्यालय के

लिए एक शिक्षिका की तलाश की, लेकिन उन्हें कोई शिक्षिका नहीं मिली। तब उन्होंने उन बालिकाओं को पढ़ाने के लिए अपनी पत्नी सावित्रीबाई को शिक्षित कर सहायक शिक्षक के रूप में लगाया। एक हिन्दू स्त्री द्वारा शिक्षा प्रदान करने का कार्य करने पर उन्हें समाजद्रोही और धर्मद्रोही करार दिया गया। यही नहीं जब सावित्रीबाई विद्यालय जाती तो इन कट्टरपंथियों के अनुयायियों द्वारा उन पर फिकरेबाजी की जाती और छीटें कसे जाते, कीचड़ और पत्थर फेंके जाते। सावित्री बाई की सहिष्णुता का प्रमाण यह है कि इन्हीं निंदकों को एक बार सड़क पर इसी तरह की हरकत करने पर उन्होंने रूककर कहा कि, ये मेरे पर फेंगे गये पत्थर व कीचड़ मेरे लिए फूलों जैसें हैं। मैं अपना कर्तव्य निभा रही हूँ। भगवान आपको क्षमा करे।[27]

सावित्री बाई की शिक्षा के विषय में बाम्बे गार्जियन पत्र में उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है–

''इस 1848 में श्री सदाशिव बल्लाल गोंवडे की अहमदनगर के न्यायाधीश के कार्यालय में नियुक्ति हुई। तब वे अपने साथ ज्योतिबा फुले नामक अपने मित्र को अहमदनगर ले गये थे। एक दिन वे दोनों मिस फैरर द्वारा संचालित कन्या पाठशाला देखने गये वहां का प्रबन्ध देखकर उन्हें बड़ा खेद हुआ कि हमारे देश में महिलाओं को शिक्षा नहीं दी जा सकती। श्री फुले पूणे गये और उन्होंने अपने मित्र की सखा राम यशवन्त परांजये को नारी शिक्षा का कार्य शुरू करने के अपने इरादे से अवगत कराया।

ज्योतिबा फुले की पत्नी को श्री परांजये पढ़ाने लगे। इस प्रकार कन्या पाठशाला शुरू हुई। फिर महार, मांगों के लिए पाठशाला खोली गई। इस पाठशाला के पाठकों के लिए आवश्यक पुस्तकें श्री गोवडे अहमदनगर से भेजा

करते थे। आगे चल कर छह मास में ही दुर्भाग्य की मार पड़ी लोगों की पूर्व धारणाओं के दबाव में आकर श्री फुले ने अपने पुत्र और बहु को घर से बाहर निकाल दिया।[28]

समस्त हिन्दू समाज को अपने नियन्त्रण में रखने की कला में निपुण कट्टर ब्राह्मण अब अपना गुस्सा ज्योतिबा के पिता गोविन्द राव पर उतारने लगे। उनको उनके जाति बंधुओं के माध्यम से और स्वयं हिन्दू धर्म के ठेकेदार बनकर कहा और कहलवाया गया कि तुम्हारे पुत्र ने बालिका विद्यालय खोलकर समाज और धर्म पर कालिख पोती है और इस कार्य में तुम्हारी बेशर्म पुत्र–वधु का भी हाथ है। इन दोनों के समाज और धर्म विरोधी कार्य के कारण तुम अनायास ही भगवान के क्रोध का पात्र बन रहे हो। भगवान और धर्म के नाम पर इन लोगों ने गोविन्दराव को सलाह दी कि या तो तुम ज्योतिबा को इस कार्य से रोक दो या फिर उसे घर से बाहर कर दो। सामाजिक दबाव के कारण मजबूर होकर गोविन्दराव को ज्योतिबा से कहना पड़ा कि तुम या तो पाठशाला बंद कर दो या फिर घर से निकल जाओं। ज्योतिबा भी अपने इरादे से अटल थे। उन्होंने भी अपना निर्णय सुनाते हुए कह दिया कि, ''चाहे मुझे मौत ही क्यों न आ जाये, परन्तु मैं यह कार्य कदापि नहीं छोडूंगा।'' ज्योतिबा का इस तरह का उत्तर सुनकर सभी स्तब्ध रह गये। बाद में गोविन्दराव ने कहा, ''तब तुम्हारे लिए तुम्हारा मार्ग खुला है। तुम्हारी पत्नी को भी मैं अपने घर नहीं रख सकता।'' और उसके बाद पति–पत्नी घर छोड़कर चले गये। उदाहरण[29] ज्योतिबा पर ढाये जाने वाले अत्याचारों का हिन्दू लडकियों के लिए अमेरिकन मिशन द्वारा 1819 में 19वीं सदी की प्रथम पाठशाला खोली गई थी। लड़कियों को पाठशाला में लाने के लिए उन दिनों अध्यापकों को घर

जाकर प्रचार करना होता था। जो अध्यापक जितनी छात्राओं को पाठशाला लाता था, उसी अनुरूप उसका वेतन निर्धारित किया जाता था।

अमरिकी मिशन के द्वारा ही सन् 1840 ई. में कुछ अन्य विद्यालय पूणे के आस–पास भी खोले गये थे। स्कॉटिश मिशन के द्वारा पूणे में एक विद्यालय खोला गया था, उसमें 10 बालिकायें पढ़ती थी लेकिन ईसाईयों का विद्यालय होने के कारण वह विद्यालय नहीं चल सका। स्वतंत्र रूप से बालिका विद्यालय खोलने वाले ज्योतिबा ही पहले भारतीय व्यक्ति थे।[30] महार–मागों के लिए प्रारभ की गई ज्योतिबा की पाठशाला भी छह माह में ही बंद हो गई परन्तु अपनी आर्थिक स्थिति में थोड़ा सुधार होने पर उन्होंने पुराने गंज पैठ में सदाशिवराज गोवडे द्वारा प्रदान की गई जगह में दुबारा पाठशाला खोली। ज्योतिबा के गुरू लहूजी बाबू मांग और रावणा महार जाति के कुछ बालकों को लाये और उन्हें उन की पाठशाला में भर्ती करा दिया। गोवडे जी द्वारा उन बच्चों को स्लेटे दी गई और पाठशाला खर्च के लिए प्रतिमाह दो रूपये चन्दे के रूप में भेजे जाने लगे। ज्योतिबा को एक ब्राह्मण युवक विष्णुपंत शिक्षक के रूप में पाठशाला में सहायता प्रदान करने लगा तो कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने उस अत्याचार और जुल्म ढाने शुरू कर दिये फलस्वरूप विष्णुपंत को पाठशाला छोड़नी पड़ी। धीरे–धीरे पाठशाला में बालकों की संख्या में बढोतरी होने लगी तो ज्योतिबा किसी बड़ी जगह की तलाश पाठशाला के लिए करने लगे। सामाजिक दबाव के चलते कोई भी हिन्दू उन्हें जगह उपलब्ध नहीं करवा रहा था। किन्तु जिसके इरादे बुलन्द और अटल हो, उसके कार्य में देर भले ही हो लेकिन कार्य सफल अवश्य होते है। एक मुसलमान भाई जो उसी मोहल्ले में रहता था, उसने ज्योतिबा के इस नेक काम के लिए अपना घर

साधारण किराये पर उपलब्ध करा दिया। ज्योतिबा को पाठशाला हेतु मेजर कैन्डी किताबें उपलब्ध कराते थे जबकि अन्य मित्र मोरों विट्ठल बालवेकर तथा देवराव ठोसर उनका पत्राचार संबंधी कार्य करते थे।[31]

''इस प्रकार दो साल सें भी अधिक समय तक शिक्षा, शिक्षण कार्य का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् ज्योतिबा ने पेठ नामक मौहल्ले में अण्णा साहब चिपलूणकर नाम के एक ब्राह्मण व्यक्ति की कोठी में 3 जुलाई 1851 को एक और बालिका विद्यालय चलाना प्रारम्भ कर दिया।[32] उनके इस शिक्षाकार्य में केशवराव भवालकर उन्हें सहयोग देते थे। यह कार्य करते हुए इन लोगों को काफी विरोध का सामना करना पड़ा। लेकिन जैसे–जैसे उन्हें अपने कार्य में प्रगति महसूस होती, वे दूगने उत्साह से इस पुण्य कार्य में लग जाते थे। परिणामस्वरूप उनके इस कार्य ने उनके भित्ती और सहयोगियों को और भी अधिक प्रभावित किया। ज्योतिबा रात–दिन अथक परिश्रम कर रहे थे। उन्होंने आगे चलकर अपने कार्य की नींव मजबूत करने के लिए एक कार्यकारी समिति भी गठित की। अण्ण सहस्त्र बुद्ध, बापूराबड़ी मांडे, विष्णु मोरेश्वर भिडें, कृष्ण शास्त्री चिपलुणकर तथा उस समय के विद्यार्थी विष्णु शास्त्री पंडित इस समिति में शामिल थे। सरकार को कार्यकारी समिति द्वारा किये गये आवेदन में यह उल्लेख किया गया था कि ज्योतिबा एक परोपकारी व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपना जीवन शिक्षा कार्य के लिए लग दिया है। इस पाठशाला में ही आते–जाते समय प्रधानाध्यापिका सावित्री बाई फुले पर अत्याचार हुए। अतः उन्हें घर से स्कूल लाने ले जानें के लिए संस्थान ने एक चपरासी नियुक्त किया। ज्योतिबा ही इस संस्था के मुख्य आधार थे। वे स्त्री–शिक्षा आंदोलन के नेता थे। इस कार्य के लिए वे अथक प्रयास कर रहे थे। ज्योतिबा का यह कार्य अब काफी

प्रगति पर था। अपनी इस संस्था की बदौलत उन्होंने सन् 1851 की 17 सितम्बर को रास्ता पेठ नामक मौहल्ले में एक अन्य कन्या पाठशाला खोली। तत्पश्चात् 15 मार्च सन् 1852 में बेताल पेठ नामक मौहल्ले में तीसरे कन्या विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय का निरीक्षण करने के बाद दादोबा पाडुरंग लर्खडकर ने यह मत व्यक्त करते हुए कहा था कि, ''इतने कम समय में विद्यालय की इतनी प्रगति का श्रेय उसके संचालकों को ही जाता है।'' शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष जॉन वार्डन और न्यायाधीश ब्राउन ने विद्यालय के कार्य को देखकर काफी संतोष व्यक्त किया था।[33]

स्त्री शिक्षा और निम्न जातियों की हिमायत करने वाले के रूप में ज्योतिबा का नाम अब सम्पूर्ण महाराष्ट्र में गूंजने लगा। शिक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा किये गये अथक प्रयास और त्याग अब चारों तरफ एक ऐसी ज्योति के रूप में प्रकाश फैलाने लगे कि जिससे सम्पूर्ण पददलित समाज प्रकाशित होने लगा।'' मुम्बई के राज्यपाल ने उनके शैक्षिक कार्य की जानकारी लन्दन स्थित कम्पनी सरकार को पूर्व में ही भेज दी थी। अब उनका यथोचित सम्मान होना ही शेष था। पूना आब्जर्वर नामक पत्र ने अपने 12 जून, 1852 के अंक में लिखा था कि ''अपने देशवासियों के उद्धार के लिए ज्योतिबा द्वारा जो महान प्रयास किये जा रहे है। और स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो प्रशंसनीय कार्य किया है, इसके बदले में सरकार से उन्हें 200 रूपये का सम्मान–वस्त्र इनाम में मिलने वाला है।[34]

उसके अनुसार पूना महाविद्यालय के प्राध्यापक मेजर थामस कैन्डी ने सरकार की आज्ञा से ज्योतिबा का सम्मान करने के लिए विश्राम बाग बाडे में

16 नवम्बर, 1852 को सरकार और अन्य गणमान्य व्यक्तियों की सभा में ज्योतिबा को वस्त्र अर्पण किया।[35]

जिस तरह महाराष्ट्र में स्त्री शिक्षा का संकल्प ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्री फुले ने लिया उसी तरह गुजरात में दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी ने नारी शिक्षा के प्रति अपने आप को समर्पित कर दिया। राजस्थान में भी उस समय शिक्षा का स्तर काफी अच्छा नहीं था। सम्पूर्ण राजस्थान नारी शिक्षा का स्तर तो दक्षिण भारत में भी गिरा हुआ था। दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के माध्यम से राजस्थान शिक्षा के क्षेत्र में अच्छा कार्य किया। हरबिलास शारदा ने अजमेर में परोपकारी सभा उदयपुर, मारवाड़, हितकारिणी सभा, अजमेर तत्कालीन राजपूताने के नरेशों का योगदान भी नारी शिक्षा प्रति सजग रहे।[36]

3. स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन :

ज्योतिबा फुले नारी शिक्षा के प्रति इतने कटिबद्ध थे कि 1848 में बुधवार पेठ में लड़कियों की पाठशाला शुरू करने के बाद उन्होनें 17 दिसम्बर, 1851 में रास्ता पेठ में एक और लड़कियों की पाठशाला खोल दी। इस पाठशाला के चार माह बाद 15 मार्च, 1852 को उन्होंने बेताल पेठ में भी एक पाठशाला शुरू कर दी।

अविद्या को वे अपनी जाति के अपमान और उपकार का कारण मानते थे और विद्या में सम्मान कल्याण और समृद्धि को देखते थे। इस बारे में उन्होंने अपनी रचना 'किसान का कोड़ा' में स्पष्ट कहा भी –

'विद्या बिना मति गई।
मति बिना गति गई।
गति बिना नीति गई।
नीति बिना सम्पति गई।
सम्पति बिना शूद्र पतित हुए।
इतना सारा घोर अनर्थ,
मात्र अविद्या के कारण हुआ'।।

ज्योतिबा फुले के नारी शिक्षा अभियान की अंग्रेजों ने बड़ी सराहना की। 16 नवम्बर, 1852 को मेजर कैंडी की अध्यक्षता में सरकारी शिक्षा विभाग ने ज्योतिबा का अभिनंदन किया।[37] फरवरी, 1853 में ज्योतिबा ने नारी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए एक समारोह का आयोजन किया। इस समारोह में तत्कालीन शिक्षा समिति के अध्यक्ष मेजर कैंडी और मिसेज कैंडी, ई.सी. जोहन्स और मिसेज जोहन्स, रा बापू राबजी मांडे और अन्ना साहेब चिपलूणकर जैसे देशी–विदेशी गणमान्य अन्ना साहेब चिपलूणकर ने मराठी भाषा में भाषण दिया। भाषण कुछ इस प्रकार था–

नारी को शिक्षित कर उनमें सुधार लाना, उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार सम्मान देना और उनके कल्याण की और ध्यान देना यह सब हिन्दुओं (उच्च वर्गीय) की विचारधारा के विपरीत है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि वे समझते है कि ऐसा करने से उनका धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। उनके मत के अनुसार, नारी को सदैव पुरूष की दासी बनकर ही रहना चाहिए। उन्हें शिक्षा नहीं प्राप्त करनी चाहिए। उन्हें धर्म के बारे में कुछ भी जानने की आवश्यकता

नहीं। यहां तक कि उन्हें पुरूष के बीच बैठना और उनकी बातों पर भी ध्यान नहीं देना चाहिए।

सारांश यह कि किसी भी बात में नारियों को पुरूषों की बराबरी नहीं करनी चाहिए और इस मूर्खता की पुष्टि के लिए वे नारी की निन्दा में लिखे गए शाखों को दिखाते हुए कहते हैं, कि पहले बड़े–बड़े विद्वान और ऋषि–ज्ञानी हुए थे। क्या उनका लिखा झूठ हो सकता है? किन्तु ऐसी बात उनकी समझ में नहीं आती। उनकी नारियाँ अशिक्षा के कारण कितनी दुरावस्था में है और उनके कारण उन्हें कितने कष्ट सहने पड़ते है, इसे वे नही देखते।

नारियों को किन उपायों से सुख मिलेगा, वे शिक्षित लोगों में सम्मानित और योग्य कैसे बन पाएगी इसकी वे सपने में भी कल्पना नहीं करते। जो जन हितकारी लोग इस देश के कल्याण और सुख की चिंता करते है, उन्हें यहां की नारियों की दशा देखकर बहुत दुख होता है। वे सोचते तो यही है कि इस देश का चहुंमुखी विकास हो।

सरकार को नारियों की इस दुर्दशा की ओर ध्यान देना होगा और हर संभव प्रयास करके उन्हें शिक्षित करना होगा।

ज्योतिबा फुले निः संदेह नारी की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षधर थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सार्वजनिक सत्य धर्म' मे नारी की स्वतंत्रता का एक घोषणा पत्र प्रस्तुत किया। इसमें निम्न बातें प्रमुख से उल्लेखित थी–

- ❖ सभी नर–नारी मानवीय अधिकारी के हकदार है। कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह किसी पर भी बल प्रयोग नहीं कर सकता।

- ❖ सभी नर–नारी मानवीय अधिकारों के हकदार है। कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह किसी पर भी बल प्रयोग नहीं कर सकता।
- ❖ सभी नर–नारी मानवीय अधिकारों के विषय में अपने विचार और मतों को व्यक्त करने, लिखने और प्रचारित करने की स्वतंत्रता है।
- ❖ उन सभी मानवों को धार्मिक और राजनीतिक स्वतंत्रता दी गई है।
- ❖ कोई भी नर–नारी दूसरों की धार्मिक बातों के बारे में मत भिन्नता या राजनीतिक कारणों से उनकों किसी भी तरह से नीच नहीं मानना चाहिए और न ही उनका शोषण करना चाहिए।
- ❖ सभी नर–नारियों को धर्म संबंधी स्थानीय या क्षेत्रीय अधिकारों के पद उनकी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार मिलने चाहिए। इसके लिए निर्माणकर्ता ने सबको समर्थ बनाया है।
- ❖ सभी नर–नारियों, धर्म, स्थानीय और क्षेत्रीय हर मनुष्य की स्वतंत्रता, सम्पति और उनमें जुल्म से बचने का अधिकार है।
- ❖ सभी नर–नारियों में किसी भी प्रकार की पसंद या नापसंद के आधार पर उनमें अंतर न करते हुए उनमें खाने–पीने और पहनावे आदि के बारे में किसी भी प्रकार का विधि निषेध नहीं होना चाहिए।[38]

12 फरवरी सन् 1853 को, फुले के द्वारा बालिकाओं के लिये खोली गई प्रथम पाठशाला का सार्वजनिक निरीक्षण हुआ जिसमें बापूराव मानसाहेब मान्डे ने अपने प्रभावशाली भाषण में कहा कि यह दयनीय स्थिति है कि हमारे देश के लोग अभी भी महिला शिक्षा की आवश्यकता के प्रति जागरूक नहीं हुए हैं।

उस समय ब्राउन जज मौजूद थे। बापूराव मान्डे ने पूना में महिला शिक्षा की दशा पर वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी। उन्होंने बताया कि महिलाओं को अज्ञान और अंधविश्वास के बंधनों से मुक्ति दिलाना ही इन बालिका विद्यालयों का उद्देश्य है। ज्योतिबा के द्वारा निम्न जाति के बालक व बालिकाओं के लिये खोले गये स्कूल की वार्षिक परीक्षा 21 मार्च, 1865 को आयोजित हुई जो पूर्व पेशवा के तालीमखाना, पीठ शुक्रवार में सोमवार को 7 बजे प्रारम्भ हुई। इनमें बड़ी संख्या में समृद्ध तथा प्रतिष्ठित लोग इकट्ठे हुए।[39]

ज्योतिबा फुले ने अपना सम्पूर्ण जीवन किसानों, दलितों, महिलाओं की उन्नति में समर्पित किया था। इन वर्गों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध कर उन्होंने इन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत कराया उन्होंने 'किसान का कोड़ा शेतक माचा आसूद' नामक छोटी सी पुस्तक शूद्र किसानों के रक्षार्थ लिखी।

यह पुस्तक उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई पुस्तक के उद्देश्य के बारे में ज्योतिबा लिखते है – फिलहाल शूद्र, एवं किसान, धर्म और राज्य संबंधी कई कारणो से अत्यन्त विपन्नावस्था में आ पहुंचे है। तत्कालीन महाराष्ट्र के किसानों के प्रश्नों की विशद् चर्चा इस पुस्तक में की गई है। पुस्तक के प्रारम्भ में उन्होंने शिक्षा के महत्व के बारे में तथा उसकी कमी के कारण शूद्रों को जो नुकसान उठाना पड़ा एवं अशिक्षा जनित अज्ञान के कारण उनकी जो अधोगति हुई है उनका वर्णन पुस्तक में किया गया है, जो इस प्रकार है[40]–

महात्मा फुले ने शिक्षा रूपी कोड़ा उनके हाथ में दिया जिससे किसान लोग अपने शोषकों से सावधान रह सके और शोषकों की चालाकियों से बेखबर नहीं रहे। सरकारी कर्मचारियों, पटवारी, कुलकर्णी, अवसरों, पंडा, पुरोहित,

ब्राह्मण आदि के शोषण चक्र से शिक्षा रूपी कवच पहनकर अपनी रक्षा कर सकें।[41]

ज्योतिबा–दम्पति के साहस, सहिष्णुता और शिक्षा विकास के अनथक यत्नों की चर्चा समाज में फैलती गयी। उस समय पूणे के ज्युडिशियल कमीशनर मेहरवान वोरडेन साहब ने 1854 में इन दोनों के कार्यों की भूरि–भूरि प्रशंसा की थी।

मराठी स्कूलों के सचिव श्री दादोवर पाण्डुरंग तर्खडकर ने ज्योतिबा के स्कूलों का अचानक निरीक्षण किया और छात्राओं की शैक्षिक समुन्नति और मेघा से संतुष्ट होकर ज्योतिबा और सावित्री के ज्ञान लगन को सराह कर उत्साहित किया। सावित्री के ज्ञान, लगन और साहस की चर्चा पूरे प्रान्त में निनादित होने लगी और लोगों ने स्वीकार किया कि मात्र महाराष्ट्र में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय स्तर की वे प्रथम भारतीय महिला शिक्षिका है।

शिक्षा का सम्यक् समुत्कर्ष मात्र स्कूली शिक्षा से संभव नहीं है। स्कूली शिक्षा समाज के कुछ ही लोगों को शिक्षित कर सकती है। ज्योतिबा की मान्यता थी कि ज्योति से ज्योति प्रज्वलित होनी चाहिए। एक ज्योति अनगिनत प्रकाश का मूक्त बन सकती है। अतः हर शिक्षित व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपने पास–पड़ोस के लोगों को शिक्षा दे, ज्ञान दीप जलाएं। ज्ञान–दीप जलाने में प्रौढ शिक्षा, रात्रि पाठशाला और पुस्तकालयी शिक्षा कारगर होती है। क्योंकि ज्योतिबा जैसे समर्पित शिक्षकों का भीषण अभाव है। आज की सरकार ने और समाज ने ऐसे कार्यक्रमों को एक तो विलम्ब से शुरू किया और दूसरे उनका आर्थिक लाभ कुछ ही लोगों तक परिमित रह गया। शैक्षिक वातावरण नहीं बन सका। ज्योतिबा ने 'पूना लाइब्रेरी' की स्थापना 1852 मे की थी जिसमें हर वर्ग

के लोगों को पढ़ने की सुविधा दी गई। पूणे में लक्ष्मीबाई रोड़ पर पहले से एक वाचनालय तो था परन्तु वह कुछ ही लोगों के लिए था। गरीबों में एक तो शिक्षा नहीं थी और यदि कुछ गिने–चुने लोग शिक्षित थे भी तो वे ऐसे वाचनालयों में प्रवेश से वंचित थे। इन बातों ने ही ज्योतिबा को पुस्तकालय और वाचनालय के संस्थापनार्थ समुत्प्रेरित किया। वे जानते थे कि पुस्तकालय चलाना आसान काम नहीं है। पुस्तकालय के लिए भवन, पुस्तकें समाचार पत्र आदि के अलावा एक समर्पित व्यक्ति चाहिए जो कुछ शिक्षित हो और समय पर पुस्तकायल खोले, शिक्षार्थियों को पुस्तके दे और उनका रख–रखाव करे। ज्योतिबा ने इन समस्याओं से न घबराकर एक मकान में पुस्तकालय आरम्भ कर दिया। उनके उच्छल उत्साह को दृगगत करते हुए उनके मित्रों ने मदद की। उन्होंने स्वयं पुस्तकालय का कार्यभार संभाल लिया।[42]

4. अछूतों की शिक्षा :

ज्योतिबा के प्रयासों के फलस्वरूप तत्कालीन समाज में अछूतों की शिक्षा के विषय में सरकारी नीति में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने 19 जुलाई, 1854 को शिक्षा के संबंध में एक ज्ञापन भारत सरकार को मार्गदर्शन के लिये भेजा, उसमें कहा गया था कि ''जो गरीब जनता खुद को मेहनत से भी शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ है, उसे जीवन में उपयुक्त और व्यावहारिक ज्ञान के लिए योग्य बनाने हेतु शिक्षा दी जाये। हमारी इच्छा है कि सरकार भविष्य मे उचित कदम उठाकर इस लक्ष्य को हासिल करे। इसके लिए सरकार आर्थिक व्यय करने के लिए तैयार है। इस ज्ञापन पत्र में आगे यह भी लिखा था कि किसी भी विद्यार्थी को जाति के कारण सरकारी विद्यालय या महाविद्यालय में प्रवेश देने से इन्कार नहीं किया

जावे। वुड का यह ज्ञापन भारतीय शिक्षा क्षेत्र के इतिहास में शिक्षा संबंधी महान, आदेश के रूप में जाना जाता है।''[43] यह ज्ञापन पत्र भारतीयों की शिक्षा के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हुआ वुड के इस ज्ञापन के कारण भारतीय शिक्षा को एक गति मिली।

चार्ल्स वुड ने भले ही बहुमुखी शिक्षा प्रसार की नीति अपनाई हो लेकिन उसका मुख्य उद्देश्य हिन्दुस्तान की जनता को शिक्षित करने की बजाय इसके जरिये अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करना था। उस समय सरकार के उच्च पदों पर विराजमान अधिकारी निम्न वर्ग की जनता की शिक्षा के विरूद्ध थे। वे इस तरह के प्रयास करते थे कि किसी तरह निम्न वर्ग में शिक्षा के प्रसार के लिये जाने वाले प्रयास असफल हो। अहमदनगर के निवासियों द्वारा सन् 1855 में अछूतों के लिए विद्यालय खोलने का एक आवेदन सरकार को दिया गया और उसके अनुसार सरकार ने वहां पर एक सरकारी विद्यालय खोला। शिक्षा बोर्ड ने अपनी एक रिपोर्ट में यह भी लिखा था कि ''यह पहली बार ही अवसर है कि हम लोगों ने अस्पृश्यों के लिये विद्यालय खोला।''[44]

उस समय सन् 1856 में महार जाति के एक विद्यार्थी को धारवाड के एक सरकारी विद्यालय मे वहां के प्रधानाध्यापक द्वारा प्रवेश देने से रोके जाने पर, इस मुद्दे को लेकर मुम्बई सरकार और केन्द्र सरकार के बीच भारी बहस हुई। केन्द्र सरकार ने कहा, ऐसे विद्यार्थी को सरकारी विद्यालय में प्रवेश देने से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी विषय पर अपनी राय देते हुए लन्दन स्थित कम्पनी के संचालक ने कहा कि, ''हमारा यह उद्देश्य है कि सरकारी शिक्षा संस्था सभी वर्गों के लिए खुली होनी चाहिए। कुछ अधिकारी मुम्बई सरकार के डर से सदियों से चली आ रही दूषित परम्परा को तोड़ने से

कतराते थे, परन्तु अब मुम्बई सरकार को चेतावनी दी जाने से उनके होश ठिकाने आये है और अब उन्होंने यह घोषणा की है कि सरकारी खर्च से चलने वाले सभी विद्यालय जाति पांति निषेध रूप से सभी वर्गों के लिये खुले रहेंगे।[45]

उक्त गंभीर समस्या को सुलझाने में ज्योतिबा ने महत्वपूर्ण भूमि का निभायी थी। उस समस्या का समाधान भी उन्हें अपनी आशा के अनुरूप मिल गया। यहां एक और बात ध्यान देने योग्य है। कि ज्योतिबा के शिक्षा संबंधी कार्यों में अधिकतर सहयोगी ब्राह्मण ही थे। वे सहयोगी धैर्य और उदात भावना व विचारों से उन्हें सहयोग दे रहे थे। ज्योतिबा के दयालु मित्र सहयोगी ब्राह्मण अछूतों पर दयाभाव दिखा रहे थे लेकिन ज्योतिबा को दयाभाव मात्र से संतोष नहीं था वे एक सामाजिक क्रांति चाहते थे। वे अछूतों को समाज में बराबर का स्थान दिलाना चाहते थे। वे उन्हें वे सम्पूर्ण अधिकार दिलाना चाहते थे जो उच्च वर्ग के व्यक्तियों को समाज में प्राप्त थे, लेकिन समाज में जब कट्टरवाद चरम सीमा पर हो तब उन्हीं में से कुछ ब्राह्मणों को अपने विचारों से प्रभावित कर अपना सहयोगी बना लेना भी एक बहुत बड़ी बात थी। ज्योतिबा का विचार था कि ''निम्न वर्गों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाये कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकारों व सामाजिक समानता के लिए लड़ सकें।[46] यद्यपि ज्योतिबा का इस दौरान उनके सहयोगियों से शिक्षानीति और शिक्षा की व्यापकता विषय को लेकर मतभेद हो गया, फिर भी उनके द्वारा आरम्भ किये गये बालिका विद्यालय, समिति के मार्गदर्शन में सुचारू रूप से सुव्यवस्थित ढंग से चलते रहे। कुछ विशेष कारणों से महार–मांग जाति के विद्यालय उन्हें एक संस्था को सुपुर्द करने पड़े। अपने विद्यालय दूसरी संस्था को सुपुर्द करने के कारण उन विद्यालयों को काम–काज उस संस्था के बहुमत

के अनुसार चलने लगा। कुछ इस प्रकार हुआ कि ज्योतिबा ने पुराण, धर्मशास्त्र और इतिहास के जो अर्थ निकाले थे और उनका जो स्पष्टीकरण अपने विचारों से किया था। उससे जो स्पष्टीकरण अपने विचारों से किया था उससे उनके सहयोगी नाराज हो गये। उनके सहयोगियों को डर सताने लगा कि धर्मशास्त्र का जो अर्थ ज्योतिबा ने लगाया है यदि वह अर्थ निम्नवर्ग के छात्रो के दिमाग में असर करने लगा तो परिणाम भंयकर होंगे, ज्योतिबा ने तो स्मृति संहिताकार और सामाजिक कानून बनाने वालों के उद्देश्यों को पर्दाफाश कर उन पर कठोर टीका–टिप्पणी की थी। इस विषय पर उनके सहयोगियों में चर्चा आम हो गई और संस्था की आये दिन बैठकें होने लगीं। उनके सहयोगियों का मत था कि निम्नवर्ग के छात्रों को केवल पढ़ना–लिखना सिखाया जाये और अंकगणित ही पढ़ाया जाये, जबकि ज्योतिबा फुले का विचार था कि छात्रों को ऐसी शिक्षा दी जाये जिससे उन्हें अच्छे बुरे की पहचान तथा हितकारी अहितकारी बातों का ज्ञान हो। इस संबंध में उन्होंने कहा भी था कि, ''अपने अधिकार हासिल करने के लिए केवल लड़ने के लिए ही नहीं वरन उनकी रक्षा के लिए भी उन्हें तैयार रहना चाहिए।[47]

ज्योतिबा की आर्थिक स्थिति खराब ही थी क्योंकि वे स्वयं और उनकी पत्नी उदारतापूर्वक निःस्वार्थ भाव से बिना वेतन लिये शिक्षण कार्य करते थे। परिणाम यह हुआ कि स्वयं की जीविका की समस्या से भी वे सदैव उलझे रहे। कट्टरपंथियों ने तो अत्याचार की हद ही कर दी थी, कुछ लोगों के द्वारा उनकी हत्या का भी प्रयास किया गया, लेकिन 'जाको राखे साइयां, मार सके न कोय' की कहावत चरितार्थ हुई और वे ही हत्यारें आगे चलकर उनके परम शिष्य भी बन गये। ज्योतिबा का शिक्षण कार्य निर्विघ्न चलता रहा। बाद में वे

ईसाई मिशनरियों के विद्यालयों में काम करने लगे, इसके पूर्व वे लगभग 11 वर्ष तक अपने द्वारा शुरू किये गये विद्यालयों में अपनी सेवायें देते रहे थे। ईसाई मिशनरियों के विद्यालयों में वे एक अतिउत्साही और पूर्ण निपुण अध्यापक के रूप में तथा निम्नवर्ग की छात्राओं की शिक्षा के लिए प्रयत्नशील पुरूष के रूप में काफी लोकप्रिय हुए।

5. हंटर कमीशन और ज्योतिबा के विचार :

भारत की शिक्षा संबंधी समस्याओं और उनके सुधार के संबंध में सुझाव प्रस्तुत करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने विलियम हंटर की अध्यक्षता में सन् 1882 में एक आयोग गठित किया जिसे 'हंटरकमीशन' का नाम दिया गया। इस आयोग द्वारा सारे देश में भ्रमण कर शिक्षा संबंधी समस्याओं पर चर्चायें की गई तथा सार्वजनिक क्षेत्र के प्रमुख व्यक्तियों से मिलकर शिक्षा विषय पर गोष्ठियाँ की गई। आयोग को इस कार्य में सहयोग देने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा देश के सभी प्रान्तों में एक–एक समिति गठित की गई, जिसका कार्य शिक्षा संबंधी परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त कर उसे इस आयोग को उपलब्ध कराना था। इस प्रकार आयोग को उपलब्ध कराना था। इस प्रकार आयोग ने समस्त प्रान्तों से भी शिक्षा संबंधी जानकारी प्राप्त की और शिक्षाविदों से विचार–विमर्श भी किया। कुछ लोगों ने लिखित रूप में अपने विचार आयोग के पास भेजे। लिखित विचार भेजने वालों में ज्योतिबा भी एक थे।[48]

ज्योतिबा को अंग्रेजी सरकार का शिक्षा का 'अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त' मान्य नहीं था। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सरकार गरीब किसानों से पैसा इकट्ठा करके, उसे उच्च वर्ग की शिक्षा पर लुटा रही है। सरकार अगर ऐसा सोचती है कि उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग में शिक्षा का प्रचार

करेंगे, तो वह भ्रम में हैं। ये शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालय अमीरों के लड़कों का भौतिक जीवन सम्पन्न बनाने का काम किया करते हैं। लेकिन इन अमीर पुत्रों ने पढ़ लिख कर समाज को कुछ भला किया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता है। उन्होंने न अपना कोई आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत किया है, न जरूरतमंदों के लिये स्कूल खोले है, न अभागों को अपने घरों में पनाह दी है। ये हैं, किस काम के?[49] ज्योतिबा ने हण्टर कमीशन को दिये गये उक्त प्रतिवेदन में शिक्षकों का वेतन बढ़ाने की आवश्यकता पर भी जोर दिया। उन्होंने अंग्रेज सरकार को बताया कि शिक्षकों को बहुत थोड़ा (10 रूपया माहवार) वेतन मिलता है जो पर्याप्त नहीं है। अच्छे और योग्य व्यक्ति पढ़ाई के क्षेत्र में रहे, इसके लिये उनका वेतन बढ़ाकर 12 रूपये माहवार किया जाये। उन्होंने सरकार से यह भी कहा जो शिक्षक सरकारी स्कूलों में नियुक्त किये जावें, वे अध्यापन की परीक्षा उत्तीर्ण हों, और किसान वर्ग से होने चाहिए। शिक्षा के प्रारूप के बारे में उन्होंने बताया कि शिक्षा रोजगारोन्मुखी तथा परिणाम कारक होनी चाहिए। छात्रवृति स्वीकृत करने के बारे में भी उन्होंने कमीशन को उपयोगी सुझाव दिये।[50]

ज्योतिबा ने शिक्षा से संबंधित जो निवेदन 'हण्टर आयोग' के सामने प्रस्तुत किया, वह इस बात का प्रमाण है कि शिक्षा व्यवस्था के विषय में उनकी सोच कितनी गंभीर और व्यापक थी। शिक्षा और संस्कृति उच्च वर्ग से निम्न वर्ग में रिसती हुई पहुंच जायेगी, यह ''अधोमुखी निष्पन्दन सिद्धान्त'' ज्योतिबा को कतई मान्य नही था उनका कहना था कि, ''उच्च वर्ग के लोग के माध्यम से निम्न वर्ग शिक्षित व संस्कारित होगा।'' सरकार की यह सोच है तो वह

धोखे में है। सच्चाई तो यह है कि गरीब किसानों से पैसा इकट्ठा करके सरकार उसे उच्च वर्ग की शिक्षा पर लुटा रही है।[51]

आगे उन्होंने कहा कि, ''हिन्दी विद्यापीठों के समर्थकों से मेरा सवाल है कि वे आज तक के अनुभवों के आधार पर हमें कोई एक उदाहरण बता सकते हैं जो उनकी मान्यता को सही सिद्ध कर दें।''[52] जब ऐसा सिद्ध नहीं होता है तो फिर किस आधार पर यह कहा जाता है कि भारतीय समाज के लोगों को बौद्धिक और नैतिक स्तर बढ़ाना होगा। निवेदन में आगे उन्होंने कहा कि, ''राष्ट्रकल्याण में वृद्धि हुई है अथवा नही, यह जानने के लिये महाविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे विद्यार्थियों की संख्या और विश्व विद्यालय उपाधियों की सूची ही एकमात्र साधन नहीं है। जिस प्रकार जंगल के शिकार के संबंध में कानून बनाने से या 10 पौंड कर अदा करने वाले को मतदान का अधिकार देने से संविधान की कल्याणकारिता साबित नहीं होती, उसी प्रकार विश्वविद्यालय से निकलने वाले रंगरूटों या वहां देशी व्यक्तियों की 'संकायाध्यक्ष' और 'डॉक्टर' के रूप में नियुक्ति करना, इस देश के लिए हितकारी है, ऐसा साबित नहीं होता।[53] निवेदन में अपने सुझाव देते हुए आगे उन्होंने कहा कि, ''उच्च वर्गों की सरकारी शिक्षा पद्धति की प्रवृति इस बात से दिखाई देती है कि सरकारी वरिष्ठ पदों पर इन ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हो चुका है। सरकार यदि जनता का सचमुच ही कल्याण करना चाहती है तो इन अनेक दोषों का निवारण करना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। दूसरी जाति के थोड़े–थोड़े लोगों की नियुक्ति करके दिन–ब–दिन बढ़ रहे ब्राह्मणों के वर्चस्व को सीमित किया जाना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि यह इस परिस्थिति में संभव नहीं है।

इस पर हम यह जवाब देते है कि सरकार ने यदि उच्च शिक्षा पर कम ध्यान दिया और जनता की प्राथमिक शिक्षा पर यदि अधिक ध्यान दिया, तो नीति और बर्ताव से अच्छे लोग पढ़–लिखकर नौकरी करने लायक बनाने में कोई कठिनाई महसूस न होगी। उच्च वर्गों के लोग उच्च शिक्षा का प्रबन्ध स्वयं ही कर लेगें।[54]

19वी शताब्दी में राजस्थान में अंग्रेजी कम्पनी का संरक्षण स्थापित हो गया और इसके बाद राजस्थान में सामाजिक गतिशीलता आरम्भ हो गई। राजाओं और सामन्तों की सेनाओं का विघटन, यातायात के साधनों का विकास, प्रशासनिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण, अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार आदि इस सामाजिक गतिशीलता के प्रमुख कारण थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती, वाल्टरकृत राजपूत हितकारिणी सभा (22 फरवरी, 1889), देश हितेषनी सभा (2 जुलाई, 1877) और समाज सुधारक हरविलास शारदा ने भी राजस्थान में सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक पाखण्ड़ों के विरूद्ध आवाज उठाई और सामाजिक सुधारों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। अतः राजस्थान में 19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में सामाजिक सुधारों पर विशेष बल दिया गया और उनके लिए आवश्यक कानून बनाये गये।[55]

संदर्भ ग्रन्थ

1. के.एस. भावलकर – आटो बायोग्राफी (मराठी) पापूलर प्रकाशन, बोम्बे, 1997, पृ.सं. 90
2. वेदकुमार वेदालंकार – गुलामगिरी, महात्मा ज्योतिबा फुले महाराष्ट्र, शासन, मुम्बई, 1994, पृ.सं. 110
3. लोक कल्याणयेचु पत्र – 1873
4. शुभ वरीयमना पत्र – 1873
5. महात्मा फुले गौरव ग्रन्थ – खण्ड प्रथम सम्पादक हरिनरके, य.दि. फडके महाराष्ट्र राज्य शिक्षण विभाग, मुम्बई, 1991, पृ.सं. 122
6. राजकीय गजट बोम्बे – 25 दिसम्बर, 1876
7. शाह, मु.ब. भारतीय समाज क्रांति के जनक महात्मा ज्योतिबा फुले, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ.सं. 125
8. ब्लन्ट दी कास्ट सिस्टम ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ. 256, 66, डॉ. जी.एन. शर्मा सोशयल लाइफ इन मिडीवल राजस्थान, आगरा, 1968, पृ.सं. 113, राजपूताना गजेटियर मैरिज सिस्टम इन राजपूताना, पृ.सं. 15
9. विविध विस्तार पत्र – आर. बी. गुंजीकर, नवम्बर, 1873
10. अभिलाष दास – फुले और पैरियार, 1978, पृ.सं. 78
11. नवशक्ति – 24 सितम्बर, 1872

12. वृहद कथा कोष – पृ.सं. 14–15; डॉ. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू द ऐजेज, बीकानेर, 1966, पृ.सं. 451

13. डॉ. बैजनाथ पुरी – भारतीय संस्कृति के मूल तथ्य प्राच्य इतिहास विभाग लखनऊ, सुलभ प्रकाशन, वर्ष 1996, पृ.सं. 27

14. अमीर खुसरो, सम्पादक – मौलाना सैयद सुलेमान, डॉ. आर. के. सक्सैना, मध्यकालीन इहिास की संस्थाये, जयपुर, 1981, पृ.सं. 21–30

15. सुबोध पत्रिका, 21 फरवरी, 1881

16. बोम्बे गार्जियन – 2 अक्टूबर, 1852

17. एन. बी. जोशी – पूना एनिशियेन्ट एण्ड मार्डन, पृष्ठ, 1991, पृ.सं. 76

18. पूना, राष्ट्रीय संग्रहालय से प्राप्त रिकार्ड, ऐतिहासिक ग्रंथाक 13506, पूणे महाराष्ट्र।

19. ध्यानोदय पत्र – 2 अगस्त, 1853

20. एन.जी. पंवार – महात्मा ज्योतिबा फुले, समस्त वाङ्मय, 1978, पृ.सं. 73

21. रिपोर्ट ऑफ दी डायेरक्टर ऑफ ऐजुकेशन वर्ष, 1857–58, पृ.सं. 10–11

22. फ्रैन्ड ऑफ इण्डिया – 10 जून, 1852

23. ट्रेवेल्यान सर जार्ज आटो – दा लाइफ एण्ड लैटर्स ऑफ लार्ड मैकाले, पृ.सं. 329–330

24. शेतक याचा आसूद – किसान का कोड़ा, अनुवादक वेदकुमार वेदालंकार महाराष्ट्र, शासन, मुम्बई, 1996, पृ.सं. 1

25. महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली – तृतीय नाटक अनुवादक, एल.जी. मेश्राम विमलकीर्ति – राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ.सं. 17

26. हण्टर शिक्षा आयोग को दिया गया निवेदन 19 अक्टूबर, 1982

27. अकाल पीड़ितों की सहायता हेतु पत्र 17 मई, 1877, ज्ञान प्रकाश पत्र– 24 मई, 1877, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 1990

28. अछूतों की कैफियत – महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली सम्पादक एल. जी. मेश्राम विमलकीर्ति, पृ.सं. 285

29. सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक 7 ज्योतिबा फुले अनुवादक वेदकुमार वेदालंकार महाराष्ट्र शासन, 1995, पृ.सं. 8

30. मराठी ग्रन्थकार सभा को पत्र – 11 जून, 1885, ज्ञानोदय पत्र, 11 जून, 1885

31. पूना अब्जर्वर – 12 जून, 1852

32. ए.एल. श्रीवास्तव – मध्यकालीन भारत, आगरा, 1972, पृ.सं. 80–81

33. डॉ. अतहर अली, दी मुगल नोबिलिटी अण्डर औरंगजेब, एशिया, 1996, पृ.सं. 10–15

34. योगमाया, वहीं, पृ.सं. 95

35. हरिनरके, वहीं, पृ.सं. 104

36. एस.एल. नागौरी, कान्ता – आधुनिक भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जयपुर, 2001, पृ.सं. 188–119

37. एम.आई. राजस्वी – महात्मा ज्योतिबा फुले, दिल्ली, 1991, पृ.सं. 25

38. एम.आई. राजस्वी – महात्मा ज्योतिबा फुले, दिल्ली, 1991, पृ.सं. 25

39. योगमाया, वहीं पृ.सं. 96

40. शेचतक याचा आसूद – किसान का कोड़ा, वहीं, पृ.सं. 1

41. योगमाया, वहीं, पृ.सं. 97

42. जियालाल आर्य – ज्योतिपुंज महात्मा फुले, नई दिल्ली, पृ.सं. 78–99

43. महात्मा ज्योतिराव फुले – गुलामगिरी (1873), पूणे, पृ.सं. 102

44. पवाड़ा : छत्रपति शिवाजी राजे भोंसले याचा (काव्य) (1869) मराठी, बोम्बे, 1978, पृ.सं. 206

45. भवानी लाल भारतीय – ''नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती'', वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1983, पृ.सं. 47

46. सत्येन्द्रनाथ, मजूमदार, ''विवेकानन्द चरित्र'' (अनुवादक पं. मोहिनी मोहन गोस्वामी) रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1991, पृ.सं. 107

47. रोमां रोला – रामकृष्ण परमहंस (सम्पादक – अनुवादक डॉ. रघुराजगुप्त, धनराज विद्यालंकार), इलाहाबाद, 1978, पृ.सं. 98

48. डॉ. प्रभात कुमार स्वामी – समाज सुधार में ज्योतिबा फुले का योगदान, जोधपुर, 2007, पृ.सं. 74

49. हण्टर शिक्षा आयोग को दिया गया निवेदन 19 अक्टूबर, 1982 ई.

50. बाबा साहेब अम्बेडकर – ''सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड–1, नई दिल्ली, 1995, पृ.सं. 102

51. पी.एन. चौपड़ा – सम आसपैक्ट्स ऑफ सोसायटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग दी मुगल ऐज, आगरा, 1955, पृ.सं. 104

52. नन्द किशोर पारीक – राजदरबार और रनिवास, जोधपुर, 1984, पृ.सं. 45–48

53. चन्द्रा भारिल – सोशल एण्ड पॉलिटिकल आइडियाज ऑफ बी.आर. अम्बेडकर, जयपुर, 1977, पृ.सं. 111

54. ''मनुस्मृति'' भाष्यकार : प्रो0 सुरेन्द्र कुमार, दिल्ली, 1986, पृ.सं. 110

55. लता सिंहल – भारतीय संस्कृति में नारी : स्मृति ग्रंथों के विशेष संन्दर्भ में, दिल्ली, 1991, पृ.सं. 49

अध्याय पंचम

सामाजिक–धार्मिक कुरीतियों के विरूद्ध विद्रोह समाज सुधार आन्दोलन का द्वितीय सोपान

अध्याय पंचम

सामाजिक–धार्मिक कुरीतियों के विरूद्ध विद्रोह समाज सुधार आन्दोलन का द्वितीय सोपान

इस अध्याय में तत्कालीन महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान समाज सुधारकों द्वारा चलाये गये आन्दोलन की विस्तार से चर्चा की जायेगी और उनके द्वारा सम्पादित ठोस कार्यों द्वारा जो जनहित हुआ उसका उल्लेख इस अध्याय में प्रस्तुत करेंगे। विशेष विधवा विवाह, बाल विवाह, सती प्रथा, कन्या वध, त्याग प्रथा, डाकन प्रथा, वेश्यावृति, कन्याओं तथा स्त्रियों का क्रय–विक्रय, दास–दासी, अस्पृश्यता आदि का वर्णन प्रस्तुत करेंगे –

1. कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के विरूद्ध संघर्ष

महात्मा ज्योतिबा फुले ने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरूद्ध भी तेजी से विद्रोह किया। उन्होंने एक–एक कर कुरीतियों को उन्मूलन करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने भाषणों से एवं पर्चे, फाल्डर्स, पैम्पफलैट्स वितरित कराकर, जनमानस में चेतना आचरण जाग्रत कर वातावरण का निर्माण किया तथा अपने आचरण से उन्हें समाप्त करके दिखाया।[1]

नारी समाज की धुरी है और जिस समाज में उसकी धुरी ही जंग खा गई हो तो वह समाज कैसे उन्नति की गति पकड़ सकता है? शायद ऐसा ही कुछ भारतीय समाज के साथ हुआ। पुरूषप्रधान भारतीय समाज ने नारी के रहते समाज की प्रगति की कल्पना दिव्या–स्वप्न ही कही जा सकती है।

वैदिक काल में नारी को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसे पुरूष के बराबर अधिकार मिले हुये थे, लेकिन कालान्तर में मध्यकाल तक आते–आते पुरूष प्रधान समाज ने शनैः शनैः उसके सभी अधिकार छीन कर उसे पतन की ओर अग्रसर कर दिया। मध्यकाल में तो नारी घर की चार दीवारी में कैद कर दी गई। इस स्थिति में समाज के उत्थान की बात सोचना ही व्यर्थ था।[2]

यह कारण था कि भारतीय समाज दिन–प्रतिदिन पतन के गर्त में धंसता चला गया। यहां पर जिस काल परिस्थिति का आंकलन कर सामाजिक क्रांति की पहल पर प्रकाश डाला जा रहा है वह समय संक्रमण काल था। भारतीय समाज जो पहले से ही धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों से पूरी तरह संक्रमित था उस पर अंग्रेजी शासन के राजनैतिक संक्रमण ने भारतीय समाज को गुलाम बना दिया था।[3]

भारतीय समाज उच्च और निम्न वर्गों में बंट चुका था। निम्न वर्ग की जातियों को शूद्र और अतिशूद्र मानकर उच्च वर्ग के लोग उन्हें दास और हेय दृष्टि से देखते थे। उच्च वर्ग के लोगों ने भारतीय धर्म, समाज, साहित्य व दर्शन को धार्मिक साहित्य रचकर अपने अनुकूल बना लिया था। अंग्रेजी शासन के दौरान एक बात अवश्य सामने आई कि भारत में उन्होंने तो शिक्षा के प्रयास किये उसके फलस्वरूप यहां पर शिक्षित युवकों की एक नई पीढ़ी का आविर्भाव हुआ, जो अंग्रेजी साहित्य और इंग्लैण्ड का इतिहास पढ़कर एक नई राष्ट्र धारणा से परिचित हुआ। इसके अलावा उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों की सामाजिक संस्थाओं और उनकी विचार–प्रणालियों का भली–भांति अवलोकन भी किया था।

परिणामस्वरूप यहां के विचारशील लोगों में समान विधि प्रणाली, सम्मान शिक्षा प्रणाली, शासन प्रणाली और संचार माध्यमों के कारण एक राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। ऐसी स्थिति में कुछ विचारशील लोगों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो, किन्तु समीक्षा प्रणाली अपनाते हुए भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और इतिहास का परिशीलन किया और उसके गौरवशाली अंग को लोगों के सम्मुख रखकर उनमें स्वत्व जागृत करने और उनके व्यापक सामाजिक उत्तरदायित्व को समझने का प्रयास किया। इसमें भारतीय सामाजिक जीवन में दो नये मतवाद उत्पन्न हुए। एक परम्परावादी उग्रदल के रूप में तथा दूसरा समन्वयकारी प्रगतिशील दल के रूप में सामने आया। इन दोनों दलों का मूल आधार राष्ट्रवाद था। उग्रवादी दल प्राचीन हिन्दू परम्पराओं का गुणगान करने वाला था जबकि समन्वयकारी प्रगतिशील दल की कार्य प्रणाली धीरे–धीरे सुधार करने की थी।[4]

इन नये मतवादियों में ही महात्मा ज्योतिबा फुले भी थे लेकिन वे परम्परावादी उग्रदल के विरूद्ध थे। उनका मानना था कि इस दल का स्वदेश अभियान बहुत ही संकुचित है, यह स्थितिप्रिय और स्वार्थी है। समन्वयकारी प्रगतिशील दल की कार्य प्रणाली को महात्मा फुले दोषपूर्ण मानते थे।

उनके विचार से इस दल के मार्ग से गतिशील प्रगति करना असंभव है। इसलिए अपने सामाजिक सुधार की लक्ष्यपूर्ति के लिये महात्मा फुले ने अपना अलग मार्ग निर्धारित करना आवश्यक समझा उन्होंने महसूस किया कि दरिद्र वर्ग दलित और शूद्रातिशूद्र जातियों की स्थिति में विकास के अभाव में भारतीय सामाजिक उत्थान असम्भव है। अतः इनकी स्थिति सुधारने के लिए फुटकर सुधारों पर निर्भर न रहकर बुनियादी सामाजिक परिवर्तन करने की आवश्यकता

है। यह परिवर्तन केवल कुछ पाठशालायें चलाकर ही संभव नहीं, इसके लिए तो पूरे श्रमिक समाज को विभिन्न तरीकों से जागृत करना होगा और उसके मान–सम्मान और अधिकारों की ओर ध्यान दिलाकर उन्हें प्राप्त करने के लिए संगठित रूप से संघर्ष करने के लिए तैयार करना होगा।

इसी संदर्भ में उनका ध्यान एक महत्वपूर्ण सुधार की ओर गया। वे जिन धार्मिक रूढ़ियों और रिति–रिवाजों को अनुचित समझते थे, उन पर बड़े जोश खरोश से कठोर प्रहार किया करते थे। उनमें से एक विधवाओं की सामाजिक स्थिति भी थी। उन्होंने विधवाओं की स्थिति में परिवर्तन लाने और विधवाओं से संबंधित सती प्रथा का विरोध करने का फैसला किया।[5]

2. विधवा की सामाजिक स्थिति –

प्राचीन काल में अपने पति की मृत्यु के बाद उसकी चिता में पत्नी को जलकर भस्म हो जाने की प्रथा थी जिसे समाज ने सती प्रथा का नाम दिया था। लेकिन जो पत्नी पति के साथ सती नहीं होती थी उसकी दशा समाज में दयनीय हो जाती थी। ऐसा माना जाता था कि मुंडन करने से विधवा का विरागी बन जाना और उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि अब वह आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करें।[6]

मुंडन प्रथा बारहवीं शताब्दी से अस्तित्व में आई। आरम्भ में यह प्रथा केवल ब्राह्मण वर्ग में प्रचलित हुई लेकिन धीरे–धीरे समाज की अन्य ऊँची जातियों ने भी इस प्रथा को अपना लिया।[7] यह प्रथा भारत के उत्तरी भाग में अधिक प्रचलित थी।

स्त्रियों को विधवा अवस्था में अनेक क्लेशों–कष्टों और अपमान को सहते हुए विकट नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उसका मुंडन कराया जाता था और उसे उत्तराधिकार कानून के अन्यायपूर्ण प्रावधानों के तहत शेष जीवन परिवार के मुखिया की दया पर निर्भर होकर गुजारना होता था। उसका दर्शन भी अशुभ माना जाता था, उसे किसी शुभ अवसर पर उपस्थित रहने की अनुमति नहीं थी वह कोई आभूषण धारण नहीं कर सकती थी। इन परिस्थितियों में घर के किसी कोने में पड़े रहने के सिवाय उसके पास कोई चारा नहीं था।[8]

वास्तविकता यह है कि समाज में बुजुर्ग कहलाने वाले लोग ही विधवाओं का प्राकृतिक मानव धर्म छीनकर उनका जीवन मिट्टी में मिलाने का पाप कर्म किया करते थे। जिस घड़ी से विधवा विवाह पर प्रतिबंध लगा उस घड़ी से आज तक लाखों विधवाओं की बलि इस समाज में इस घातक रूढ़िवादी परम्परा की भेंट चढ़ गई।[9]

महात्मा फुले ने जब विधवा उद्धार का संकल्प लिया तब भारत पश्चिमी शिक्षा और विचार प्रणाली के प्रकाश में शनैः शनैः शेष विश्व के साथ कदम से कदम मिला कर आगे बढ़ने की कोशिश कर रहा था। वह अपनी पुरानी निष्ठुर रूढियों और दुराग्रही परम्पराओं को ठुकराने लगा था।[10]

चूंकि किसी भी अन्य देश में विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक नहीं थी यह अत्याचार केवल भारत में ही होता था और धर्माज्ञा तथा भद्रता के नाम पर यह कृत्य खुले आम हुआ करता था।[11]

महात्मा फुले के विधवा–उद्धार संकल्प के दौरान ''नवम्बर सन् 1852 में मुम्बई के एक समाचार पत्र में खबर छपी की भुज में अंग्रेज अधिकारियों द्वारा एक दुर्भाग्यशालिनी विधवा को चिता से बाहर खींचने का प्रयास किया गया। क्योंकि वह महिला जीवित रहना चाहती थी, लेकिन चिता के आस–पास खड़े ब्राह्मण उसे जबरन चिता की ओर खींच ले गये। उसने जब फिर भागने का प्रयास किया तो ब्राह्मणों ने उसके सिर के टुकड़े–टुकड़े कर दिये।''[12] इसी तरह की एक घटना और हुई जिसका उल्लेख सन् 1866 में प्रकाशित 'पूणे–वर्णन' में मिलता हैं। इन घटनाओं ने तो महात्मा फुले के मन में विधवा उद्धार की धधक रही ज्वाला मे घी का काम किया। पहले विधवा मुंडन बन्द करने का निर्णय लिया। उन्होंने मुम्बई के नाई समाज की एक सभा बुलाई जिसमें लगभग 500 नाई उपस्थित थे।

उस सभा में विधवा मुंडन पर विचार–विमर्श हुआ और सर्वसम्मति से यह संकल्प पारित हुआ कि आज से कोई भी नाई किसी विधवा का मुंडन नहीं करेगा। नाइयों की इस सभा का समाचार जब इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुआ तब वहां के नाईयों ने इस सहृदयता पूर्ण कार्य के लिए बधाई पत्र भेजा। यह खबर जब देश के अन्य नगरों में पहुंची तो वहां के नाइयों ने भी विधवा मुंडन जैसे कुकर्म को बंद कर दिया। महात्मा फुले द्वारा तत्कालीन नाई समाज को साथ में लेकर केश मुंडन प्रतिबंध की दिशा में उठाये गये इस कदम से ब्राह्मण विधवायें भी सकेश जीवन बिताने लगी।[13]

सन् 1840 में ही वैसे तो विधवा–विवाह के पक्ष में हवा बहने लगी थी। इसका श्रीगणेश भी एक ब्राह्मण विचारक श्री विष्णु शास्त्री पण्डित ने किया था। अगर उन्हें विधवा विवाह के पक्ष में प्रचार करने वाला प्रथम प्रचारक भी

कहें तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं है। लेकिन महात्मा ज्योतिबा फुले ने जिस हिम्मत और साहस से इस सामाजिक कुरीति को मिटाने में सक्रिय योगदान दिया वह अतुलनीय है। कुछ समय तक तो वे इस आन्दोलन के अग्रगामी बने रहे। यद्यपि सन् 1842 में बेलगाँव में दो विधवाओं का पुनर्विवाह सम्पन्न कराया गया लेकिन इस घटना का अधिक प्रचार–प्रसार नहीं हुआ। सन् 1860 में महात्मा फुले की प्रेरणा से 8 मार्च को पूणे में शेणवी जाति की एक विधवा और विधुर का विवाह हुआ।[14]

विधवा के विवाह का प्रश्न विधवा के मुंडन की तरह ही ब्राह्मण और उच्च जातियों से संबंध रखता था लेकिन फिर भी महात्मा फुले का दिल तथाकथित उच्च वर्ग या जाति की इन विधवाओं की दीन अवस्था देखकर भर आता था, विशेष रूप से उनके नैतिक पतन को देखकर तो उनका हृदय बुरी तरह द्रवित हो जाता था। भ्रूणहत्या से रंगे हुए विधवाओं के हाथ देखकर तो महात्मा फुले अत्यधिक बैचेन हो जाते थे। यह सामाजिक समस्या ऐसी थी जिसके समाधान के उन्हें दो ही रास्ते दिखायी दिये। पहला विधवा विवाह के पक्ष में प्रचार करना तथा दूसरा विधवाओं की अवैध संतानों के लिये बालहत्या प्रतिबंधक गृह खोलना।[15]

3. विधवा विवाह को प्रोत्साहन :

नारी वर्ग की अधोगति से ज्योतिबा बहुत खिन्न थे। उनका ध्यान विधवा महिलाओं की विपन्न अवस्था पर गया। उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव से जाना कि ब्राह्मण वर्ग में व उनकी नकल करने वाले अन्य उच्च वर्गीय लोगों में विधवा विवाह निषेध है।[16]

ज्योतिबा ने इस अत्याचार के विरूद्ध आवाज उठाई और इस सन्तापकारी, अपमानजनक कुप्रथा को रोकने का प्रयास किया। ज्योतिबा के प्रोत्साहन तथा सक्रिय सहभागिता से पूना के गोखले बाग में 8 मार्च, 1860 को एक शैणवी विधवा युवति का उसी जाति के एक विधुर के साथ विवाह सम्पन्न कराया गया। ज्योतिबा का कथन था कि जब ब्राह्मणी समाज का विधुर दूसरी शादी कर सकता है तो उनकी विधवा बालिका या स्त्री दूसरी शादी क्यों नहीं कर सकती है। महिलाओं के साथ यह भेदभाव क्यों है।[17] उस समय ज्योतिबा ने देखा कि समाज में ऐसी विधवायें जिन्हें पुरूषों द्वारा धोखा दिया गया या जो छली गयी और उनसे गर्भवती होने की अवस्था में या तो वे कुएं में कूदकर आत्महत्या कर लेती या फिर भ्रूण हत्या के लिए विवश होती थी। किसी भी तरह उनका यह कृत्य अगर समाज के सामने आता तो वे बदचलन कहलाती और बदनामी की चादर उन्हें ओढ़नी पड़ती थी। इस पापकर्म में संलग्न उनके सहगामी समाज की नजरों से बेदाग बच जाते थे। ज्योतिबा फुले ने सोचा कि यदि इन छली गई विधवाओं की प्रसूति यदि गुप्त रूप से कराई जाये और उनकी होने वाली संतान की रक्षा के उपाय किये जाये तो अन्याय, अवहेलना, और अपमान से दबी–सहमी इन विधवाओं को सम्बल मिलेगा और वे घर की चारदीवारी से बाहर निकलने की हिम्मत भी जुटा पायेगी।

इस प्रकार घर से बाहर निकलने वाली ये विधवायें धर्म के तथाकथित ठेकेदारों और समाज के सफेदपोश लोगों पर उठाया गया शस्त्र सिद्ध होगी। इस विचार के द्वारा महात्मा फुले ने बालहत्या प्रतिबंधक गृह खोलने का निर्णय किया और इसकी लोगों में जानकारी प्रदान करने के लिए पूणे शहर में जगह–जगह दीवारों पर पर्चे चिपकवायें और उनमें लिखा कि ''विधवाओं, इस

बालहत्या प्रतिबंधक गृह में आओ और गुप्त तथा सुरक्षित रूप से अपनी प्रसूति कराओ। चाहे तो बच्चे को ले जा सकती हो या हमारे यहां रख सकती हो। हमारा अनाथ आश्रम तुम्हारे बच्चों का पालन पोषण करेगा।[18] पुणे शहर के धर्म के ठेकेदारों ने जब इस तरह के इश्तहार दीवारों पर लगे देखे तो वे आश्चर्यचकित हो बौखला उठे। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि यह सारा कृत्य ज्योतिबा फुले के द्वारा किया गया है। इसके लिए ज्योतिबा को डराया धमकाया भी गया लेकिन उन्होंने उनके डर और धमकी की परवाह नहीं की।

''ज्योतिबा फुले द्वारा आरम्भ की गई इस प्रकार की भारत में पहली संस्था थी जहां इस प्रकार विधवाओं की प्रसूति कराकर उनकी संतान की सुरक्षा और लालन–पालन की भी व्यवस्था थी। यद्यपि यह संस्था केवल विधवाओं के लिए प्रारम्भ की गई थी लेकिन इसका एक दूसरा अच्छा परिणाम यह निकला कि इस संस्था के प्रारम्भ होने से ऐसे अनाथ बच्चे जो पहले ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित संस्थाओं में शरण पाते थे वे ज्योतिबा के पास आने लगे।''[19]

यह बालहत्या प्रतिबन्धक गृह सन् 1863 में स्थापित हुआ। इसे ज्योतिबा ने अपने स्वयं के घर में स्थापित किया था।[20] इस बालहत्या प्रतिबंधक गृह की दाई के रूप में कार्य करने का जिम्मा ज्योतिबा की पत्नी सावित्रीबाई ने लिया। उन्होंने श्रीमती सगुणा बाई से जो ईसाई मिशनरियों द्वारा बच्चों के पालन–पोषण की विधि जानकार थी, वह एक प्रशिक्षित दाई की तरह बच्चों का पालन–पोषण अपने इस गृह में करने लगी। यद्यपि उन्हें इस कार्य के अन्तर्गत कठिन परिस्थितियों और सामाजिक विरोध का सामना भी करना पड़ा

लेकिन उन्होनें बड़ी हिम्मत और साहस से इस कार्य को पूर्ण किया। कट्टरपंथियों ने उनके मार्ग में बहुत रोड़े अटकाये, लेकिन वे घबरायी नहीं और अपने मार्ग पर अडिग बनी रहीं। फुले को इस कार्य में सर्वश्री गोपालराव देशमुख, भाडांरकर, रावबहादुर मदन श्री कृष्ण, नवरगें, तुकाराम तांत्या पड़वल और परमानन्द आदि लोगों ने भरपूर सहायता की।[21]

निराश्रितों को आश्रय देना, विकलांग व्यक्तियों को सहारा देना तथा छात्रों को भोजन उपलब्ध कराना ही ज्योतिबा फुले के विचार से सद्धर्म था। उन्होंने लिखा भी है :–

सभी स्त्री–पुरूष परिश्रमी बनें।
परिवार को पोसें, प्रसन्नता से।
संतानों को नित्य पाठशाला भेजें।
अन्न–दान करें, छात्रों को।
सार्वभौम सत्य कांड स्वयं आचरण करें।
सुखपूर्ण बर्ताव करें, विकलांगों से।
ऐसे आचरण से सबको सुख देंगें।
स्वयं भी सुखी होगें, ज्योति कहे।[22]

ज्योतिबा फुले के बालहत्या प्रतिबन्धक गृह के बारे में एक विचारशील समाज सुधारक मामा परमानन्द ने लिखा कि ''ऊँची जातियों की जो विधवायें कुमार्ग पर चली गई, ज्योतिबा ने उनकी भूतदया तथा भ्रातृत्व भाव से रक्षा की। उन्होंने कई विधवाओं को बालहत्या जैसे गंभीर अपराध से बचाया। इस त्याग का सचमुच कोई जोड़ नहीं है।''[23]

ब्राह्मण औरतों के वैधत्य पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुऐ स्वयं फुले लिखते हैं कि ''आंशिक आर्य व्यवस्था ने बिना सोच–समझ कर पुरूषों को बहुपत्नी की छूट दे रखी है। परन्तु यदि उसकी अपनी पत्नी रात के वक्त कहीं बाहर जाते हुए उसे दिखायी देती है तो उसका पति उस पर दुर्व्यवहार का आरोप लगाकर उसे घर से बाहर निकाल देता है''।

वृद्धावस्था में अपने चरित्र पर लगे कलंक को मिटाने के लिए वही पुरूष धार्मिक बन जाता है तथा पत्थर के देवताओं की उपासना के नाम पर वेश्याओं को मंदिर में नाचने गाने के लिए बुलाता है। ऐसा दुष्ट व्यक्ति की मृत्यु के बाद वहीं आर्य परम्परा उसकी जवान, सुन्दर पत्नी को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं देती। उसके गहने उससे छीन लिये जाते है, रिश्तेदारों द्वारा उसका सिर मुंडवाया जाता है, उसे ढंग से खाना, कपड़ा नहीं मिलता, शादी समारोह में किसी भी खुशी के मौके पर उसे शरीक नहीं होने दिया जाता। वास्तव में इस दुनिया के सारे सुख–ऐश्वर्य से उसे वंचित ही नहीं किया जाता बल्कि उसे किसी अपराधी या पशु से गया बीता माना जाता है।''[24]

ब्राह्मणों के द्वारा शादी के मामले में उस समय अपनायी जाने वाली दोहरी नीति जो बहुत ही अन्यायपूर्ण और पक्षपाती पाबन्दों की परम्परा थी, उसका विरोध करते हुए फुले ने लिखा है कि ''आर्य व्यवस्था ब्राह्मण पुरूष को उसकी पहली पत्नी की जीवित अवस्था में निम्न वर्ग की लड़की से शादी करने की छूट देती है, उसी ब्राह्मण की सगी बहिन को अपने पति के देहान्त पर दूसरी शादी करने की अनुमति नहीं देती। इन अन्यायपूर्ण तथा पक्षपातपूर्ण पाबन्दियों के कारण ब्राह्मण विधवायें भयानक तथा ह्रदय–विदारक कारनामें करने पर विवश हो जाती हैं।

अपने इस तर्क की पुष्टि में उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया। राव साहब सदाशिव बल्लाल गोवडे मेरे एक ब्राह्मण मित्र हैं, जो इनाम कमीशन में अफसर है। उनके घर में काशीबाई नाम की ब्राह्मण विधवा को रसोई के काम पर रखा गया। बेचारी काशीबाई एक संभ्रात परिवार की सज्जन, सुन्दर एवं चरित्रवान युवती थी। कई महीनों तक उसने इस घर में काम किया लेकिन उनके पड़ोस में एक ब्राह्मण शास्त्री बुबा रहता था। काशीबाई ने पहले उसका प्रतिरोध किया लेकिन बाद में वह उसकी वासना का शिकार बन गई और तुरन्त गर्भवती हो गई। अपने जार के कहने पर गर्भपात कराने हेतु उसने कई विषैली दवाइयां खाई लेकिन वे सारी कोशिश असफल रही। नौ महीनों के बाद काशीबाई ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, लेकिन बदनामी के डर से उसने छुरे से उस बालक की हत्या कर उसे अपने मालिक के घर के पिछवाड़े के कुएं में फैंक दिया। दो दिन बाद पुलिस ने उस पर शक कर उसे गिरफ्तार किया। पुणे के सैशन कोर्ट में उस पर मुकदमा चला तथा उसे आजन्म कारावास की सजा मिली। अपना नाम ब्राह्मण जाति में कलंकित न हो, इसी हेतु काशीबाई ने यह अपराध किया।

इस केस से आर्य व्यवस्था का अन्यायी तथा पक्षपाती चरित्र लोगों के सामने उजागर हुआ और वे भय के मारे सहम गए। हालांकि मेरी अपनी आमदनी मेरे खर्च पूरा करने मे भी अपर्याप्त थी, मैं काशीबाई के मुकदमें के बाद अपने घर के अहाते में ब्राह्मणों के लिए एक अनाथ बालक गृह बनाने के लिए बाध्य हो गया। साथ में जोड़ी गई सूचना की प्रतियां मैंने ब्राह्मण बस्ती की सड़कों के कोने पर चिपकायी। तब से लेकर अब तक कुल पैंतीस औरतें इस गृह में आई तथा अपने बालक छोड़ गई। उनमें से पांच बालक जीवित हैं,

शेष उनकी माताओं द्वारा गर्भपात कराने के लिए ली गई विषैली जड़ी–बूटियों के कारण मर गये। इस भयानक व्यवस्था के कारण प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार की काफी सुन्दर विधवायें खुलकर या छिपकर वेश्यावृति अपनाने पर मजबूर हो जाती है। ब्राह्मण विधवाओं को अपनी जिन्दगी इतनी दुःखभरी तथा लज्जास्पद दिशा में ढकेलने पर जो विवश करती है, वह आर्य व्यवस्था कितनी भ्रष्ट तथा घृणास्पद है।[25] आगे महात्मा ज्योतिबा फुले इस बर्बर रूढिवादी अन्यायपूर्ण और पक्षपातपूर्ण सामाजिक नियम बन्द परम्परा के विरूद्ध सरकार द्वारा उचित न्यायपूर्ण निष्पक्ष व्यवस्था कायम करने हेतु ज्ञापित करते हुए कृपा की आकांक्षा व्यक्त करते हुए लिखते है, ''मैं अपनी प्रबुद्ध अंग्रेज सरकार की कृपा की आकांक्षा करता हूँ कि इस आर्य धर्म की निर्मम व्यवस्था द्वारा असहाय औरतों पर थोपे गये वैध्व्य के जुल्म का अन्त हो। इसलिए मैं प्रस्ताव रखता हूँ कि अभागी ब्राह्मण विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं देती, वह विधुरों पर यह नियम क्यों नहीं लागू करती? यह बात को साफ है कि अगर विधुरों की यह अनुमति दी जाती है तो गरीब विधवाओं को भी आवश्यकता पड़ने पर पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी ही चाहिए। इसमें कोई आशंका नहीं है कि स्वार्थी तथा दुराग्रही विधिवेताओं ने और जाति के खिलाफ द्वेष–भावना के कारण ही अपने शास्त्रों में ऐसे अन्यायपूर्ण तथा अटपटे् प्रावधान किये हैं।[26]

4. बाल विवाह प्रथा का विरोध :

ज्योतिबा फुले ने बहराम जी मालाबारी के अंग्रेज सरकार को प्रेषित नोट नं. 1 पर टिप्पणी करते हुए तथा सहमति व्यक्त करते हुए लिखा कि बाल विवाह प्रथा हमारे पारिवारिक जीवन में कटुता पैदा करती है। अल्प आयु में विवाह होने के कारण पति–पत्नी मे युवा व्यवस्था में अधिकांश मामलों में

समरसता और प्रेम भावना नहीं रहती। पति को पत्नी पसन्द नहीं आने पर वैवाहिक जीवन में दरार पड़ती है और विवाह खण्डित हो जाता है। दूल्हा दूसरा विवाह कर लेता है। इस तरह वह एक के बाद दूसरा व तीसरा विवाह करने का अभ्यस्त हो जाता है। इस सामाजिक बुराई के प्रतिकार के रूप में ज्योतिबा फुले ने सरकार को दूल्हा व दुल्हन की आयु में वृद्धि करने का प्रस्ताव दिया। उनके अनुसार 19 वर्ष से कम आयु के लड़के एवं 11 वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। जबरन वैधव्य और बाल विवाह प्रथा के विरोध में महात्मा ज्योतिबा राव फुले व बहराम जी मालाबारी के अलावा तत्कालीन समाज सुधारक ईश्वर चन्द्र विद्यासागर व दादा भाई नोरोजी ने भी प्रशंसनीय कार्य किया।[27]

भारतीय समाज में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही सामाजिक बुराइयों में एक बाल विवाह प्रथा भी है। यद्यपि आज के समाज में यह प्रथा लगभग समाप्त प्रायः हो चली है लेकिन अभी भी आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े कई ऐसे क्षेत्र है, विशेषकर राजस्थान में, जहां यह प्रथा अपनी जड़े जमाये हुए है। इस प्रथा ने तो भारतीय समाज की युवा शक्ति को एक तरह से नष्ट कर दिया।

भारत के सामाजिक पतन के लिए यह एक बहुत बड़े घटक के रूप में काम करती रही है। धर्म के ठेकेदारों ने अपने स्वार्थवश इस प्रथा को भी धर्म से जोड़ दिया।

ब्राह्मणों द्वारा बालिकों के रजस्वला होने से पूर्व ही उसकी शादी कर देना बहुत बड़ा पुण्य का काम घोषित किया गया। रजस्वला से पूर्व लड़की को कन्या का रूप माना गया है और भारतीय समाज में कन्या का दान महादान

माना गया हैं, रजस्वला होने के उपरान्त बालिका की शादी करना भारतीय शास्त्रों में पापकर्म वर्णित किया है। इसी कारण से भारतीय समाज में बाल–विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ। शास्त्रों और साहित्य में इस प्रकार की बातों को लिखकर इन धर्म शास्त्र, शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय संस्कृति को पुरूष प्रधान बनाने पर बल दिया और स्त्रियों का शोषण किया गया है।[28]

बाल्यावस्था में अपने बच्चों का विवाह रचाकर लोग सदैव लड़की पक्ष का हर तरह का शोषण भी करते रहे थे या फिर किसी प्रकार का खोट निकाल कर अपने लड़के की दूसरी शादी करने की धमकी देकर लड़की के माता–पिता का दोहन करते और बहुत से लोग तो अपने बालकों का दूसरा विवाह भी कर लेते थे। ऐसी लड़कियां जो बाद में या तो परित्यक्ता का जीवन बिताने को विवश होती थी या फिर उनके माता–पिता लोक–लाज के भय से अगर किसी तरह उन्हें उनके ससुराल भेजने में कामयाब भी हो जाते तो वे लड़किया उस घर में दासी की भांति जीवन व्यतीत करती थीं।

इसी स्थिति में लड़किया या तो भ्रमित हो कर कुमार्ग पर चल पड़ती थी या लांछित होकर बेघर होने को विवश हो जाती थी। इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते है।[29]

बाल विवाह का दूसरा पहलू यह था कि बाल्यावस्था में शादी हो जाने के बाद लड़की या लड़का जो अभी स्वयं शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक रूप से पूर्ण विकसित नहीं हो पाते, उन्हें कम उम्र में ही माता–पिता बन कर पितृत्व का भार वहन करना पड़ता था जिससे उनका शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास रूक जाता था। लड़कियों की स्थिति तो और भी खराब हो जाती थी।

कम उम्र में मातृत्व का बोझ उनके शरीर में अनेक प्रकार की कमजोरी और बीमारी का कारण बन जाता था और शारीरिक रूप में कमजोर लड़की अनेक भंयकर बीमारियों से ग्रसित होकर काल कवलित हो जाती थी।

इस प्रकार युवाशक्ति जो किसी भी तरह के परिवर्तन के लिए समर्थ होती है, जिसमें ऊर्जा और साहस कूट–कूट कर भरा होता है, इस देश की वही शक्ति सैकड़ों सालों से पंगु हो जाने के कारण ही भारतीय समाज अनेक तरह की रूढ़िवादी परम्पराओं से ग्रसित हो गया था। इसी कारण दुनिया का सिरमौर देश दुनिया के सबसे गिरे, पिछड़े और अविकसित देशों में गिना जाने लगा।

अठारहवीं सदी तक आते–आते पाश्चात्य शिक्षा और विचार के प्रसार से भारतीय समाज में एक नई जागृति और चेतना की लहर प्रवाहित हुई। इस लहर में एक युग–पुरूष के रूप में एक ज्योति प्रकाशित हुई जिसे लोगों ने महात्मा के सम्बोधन से पुकारा और जो महात्मा ज्योतिबा फुले के नाम से जगत में विख्यात हुआ।[31]

ज्योतिबा फुले ने विधवा मुण्डन के विरोध के साथ–साथ बाल विवाह जैसी कुप्रथा पर कुठाराघात किया। सामाजिक क्रांति की पहल करते हुए उन्होंने इस कुप्रथा पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है– ''मैं अब इस देश के मध्य तथा निम्न वर्ग तथा दलित आदिवासियों के बारे में चन्द बातें कहूंगा। अगर शादी के मामले में दोनों पक्षों में मामूली झड़प होती है तो बेचारी वधू को जीवन भर उसके परिणाम भुगतने पड़ते हैं। शादी के बाद अगर लड़के के पिता को लड़की के परिवार के संबंध में कोई खोट नजर आए तो उस निरीह बालिका को जातिबाधक करार दिया जाता है। अगर लड़की लड़के से

आयु में बड़ी है तो उसे ठीक से खाना कपड़ा नहीं दिया जाता बल्कि उसे अपने सम्पन्न माँ–बाप के साथ रहने की अनुमति भी नहीं दी जाती हैं। अगर इसका ससुर विपन्न तथा जाहिल हो तो खाने–पीने के अभाव से लड़की का विकास अवरूद्ध हो जाता है। संक्षेप में कहा जाये तो गुलामों से भी अधिक काम के बोझ तले लड़की को दिन–रात दबाया जाता है। उस पर इतने असहनीय अत्याचार किये जाते हैं कि उसके सामने अपने जीवन को समाप्त करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता है।[32]

समाज में इस तरह के अत्याचार करने वाले लोग किस तरह अपने अपराध पर पर्दा डालते थे, इस और इशारा करते हुए आगे ज्योतिबा ने लिखा है कि ऐसे अपराध गाँव के पटेल, कुलकर्णी (झगड़ों का सौदागर) तथा पुलिस को घूस देकर अक्सर दबाये जाते है।[33]

इस कुप्रथा के कारण बर्बाद होते परिवार तथा बहुपत्नी प्रथा पर कुठारघात करते हुए फुले आगे लिखते है, ''अपने पुत्र की शादी पर कर्जा उठाने वाले गरीब परिवार बहुओं की असामयिक मृत्यु से बर्बाद हो जाते हैं। कई बार अक्लमंद होने पर लड़के को अपनी पत्नी पसन्द नहीं आती और वह अपनी इच्छानुसार नई शादी रचाता है। आदत पड़ जाने पर वहीं कभी एक के बाद एक ऐसा दो, तीन, चार शादियां रचाता है तथा अपने पूरे परिवार को असंतोष, गाली–गलौच तथा झगड़ों के झंझट में धकेलता है। नासमझ औरतें कभी अपनी सन्तानों को जहर पिलाकर ही नहीं रूकती, कभी–कभार अपने पति को भी जहर पिला देती हैं।''[34]

इस प्रकार अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से पारिवारिक सुख शांति को नष्ट करने वाली, समाज में अपराधों को जन्म देने वाली इस बालविवाह रूपी कुप्रथा

को भारतीय समाज से समूल नष्ट करने के लिये प्रतिबद्ध ज्योतिबा फुले ने बंगाल के प्रबुद्ध हिन्दूओं द्वारा विश्वविद्यालय के स्नातकों को इस प्रचलित सामाजिक कुप्रथा के विरूद्ध दिये गये सुझावों के संदर्भ में अपना समर्थन दिया।[35]

फुले इस सामाजिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी लोगों की ओर इशारा करते हुए, तत्कालीन सरकार को सलाह देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते है कि ''सरकार में जिम्मेदार ओहदे संभालने वाले तथा कथित उच्चवर्गीय हिन्दुओं ने उन्हें अपने चालाक तथा धूर्त तरीकों से बहकाया है तथा धर्म और राजनीति के मामलों में जानबूझकर गुमराह किया है। इसलिए मेरा सुझाव है कि सरकार ऐसा नियम बनाये कि 19 साल से कम उम्र में लड़के की तथा 11 साल से कम उम्र में लड़की की शादी रचाई नहीं जा सकती। इस नियम का उल्लंघन करने वाले दोनों पक्षों के माता–पिता से उचित दण्ड वसूल किया जाये तथा इस तरह जमा की गई धनराशि का विनियोग मध्यम तथा निम्न वर्ग के हिन्दुओं की शिक्षा के लिए किया जाये। लेकिन उन्हें यह शिक्षा ब्राह्मण शिक्षकों द्वारा प्राप्त न हो क्योंकि वे शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों के मन में गलत धार्मिक कल्पना में निर्माण कर उन्हें बहकाते है।[36]

5. बाल हत्या प्रतिबन्धक गृह की स्थापना

तरूण विधवाओं के साथ अनैतिक आचरण की घटनायें भी ब्राह्मण समाज में बहुत होती थी। लम्पट व चरित्रहीन पुरूष भंली–भांति विधवा स्त्री को बहला–फुसलाकर अनैतिकता में धकेल देते थे। उनके अनैतिक से वैधव्य में बच्चे पैदा हो जाते थे। तब ऐसी विधवा स्त्रियां चुपचाप प्रसव कराकर बच्चों को कूडे के ढेर में अथवा नदी नालो में फैंक देती थी। उस समय अनेक

विधवा स्त्रियां लोक लाज के भय से आत्महत्या कर लेती थी।[37] विधवाओं की इस मजबूरी को समझकर महात्मा फुले ने अपने घर में बाल हत्या प्रतिबन्धक गृह की स्थापना 1863 में की। इस गृह में कोई विधवा स्त्री चुपचाप आकर प्रसव कर सकती थी और अपने नवजात शिशु को पालन पोषण के लिये प्रतिबन्ध गृह में छोड़ सकती थी। उसका नाम गुप्त रखा जाता था। वह स्वयं भी यदि चाहती तो वहां रह सकती थी।[38]

ज्योतिबा फुले ने आम लोगों की सूचनार्थ पर्चे छपवाकर वितरित कराये। पर्चों में लिखा था, हे तरूण विधवाओं, यहां आओ पूर्ण सुरक्षित तथा गोपनीयता के साथ अपने बच्चे को जन्म दो, अनाथालय उसकी देखभाल करेगा। इस पर्चे को पढ़कर पूना के कट्टरपंथी ब्राह्मण आग बबूला हो गये। लोकहितवादी गोपालराव देशमुख, विनायक राव मण्डारकर, प्रार्थना समाज के न्यासी लोग मदन श्री कृष्ण जो लघु वाद न्यायालय के न्यायाधीश थे, मामा परमानन्द, वासुदेव राव बावाजी नौरंग, तुकाराम तात्या पडवाल और गणमान्य महानुभाओं ने फुले के बाल हत्या प्रतिबन्धक गृह और विधवा आश्रम स्थापना के कार्य की बहुत सराहना की और ज्योतिबा की इन सामाजिक कार्यों में सहायता भी की। ज्योतिबा के विधवा एवं शिक्षा गृह से प्रेरित होकर रानाडे और उनके मित्र लालशंकर, उमाशंकर त्रिवेदी ने 1875 में पूणे में अनाथालय खोला।[39]

6. सतीप्रथा पर रोक :

ज्योतिबा, मृतक पति के साथ उसकी पत्नी को सती कराने की प्रथा को अत्याचार की पराकाष्ठा मानते थे। उनके अनुसार यह पुरूष वर्ग का नारी वर्ग पर बर्बर अत्याचार था, जो जानबूझ कर की गई हत्या की श्रेणी में आता है। यह प्रथा उच्च वर्ण के लोगो, जिन्हें वर्ण व्यवस्था के अनुसार क्षत्रिय कहा

जाता था, में प्रचलित थी, जो उनके परिवार तक सीमित थी।[40] लेकिन ज्योतिबा नारी के अधिकारों व पुरूष वर्ग से उसकी सामनता के पक्षधर थे, इसलिये उन्होंने इस प्रथा की निन्दा की। अंग्रेज सरकार ने इस अमानवीय प्रथा पर कानून बनाकर रोक लगा दी थी।[41]

7. अछूतों के लिये पानी की व्यवस्था करना :

उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ण व्यवस्था के कारण हिन्दू समाज में अस्पृश्यता व्याप्त थी। महार, मांग, चमार, चाण्डाल आदि जाति जिन्हें ज्योतिबा फुले ने अपनी रचनाओं में अतिशूद्र कहकर संबोधित किया है। अस्पृश्यता के शिकार थे। ब्राह्मण लोग और उनके प्रभाव क्षेत्र के क्षत्रिय व वैश्य वर्ग के लोग इन्हें अछूत मानते थे। इनकी छाया से भी दूर भागते थे। इनके शरीर को छूना तो दूर की बात थी। पीने का पानी इन्हें सुगमता से उपलब्ध नहीं था, फुले के घर में कुंआ था, पानी का बड़ा हौज था जिसे उन्होंने अस्पृश्य लोगों के लिये सन् 1868 में खोल दिया। यहां तक की उन्होंने अछूतों के साथ भोजन करना भी प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वे जातिवाद को नहीं मानते थे।[42]

8. सत्यशोधक समाज की स्थापना

ब्राह्मण वर्ग के धार्मिक और सामाजिक प्रभाव के विरोधी आन्दोलन चलाने के लिए महात्मा ज्योतिबा फुले ने सन् 1873 को सत्य शोधक समाज की स्थापना की। ज्योतिबा ने महाराष्ट्र भर में फैले हुए अपने मुख्य हितैषियों तथा अनुयायियों को एक पत्र लिखकर दिनांक 24 सितम्बर, 1873 को पुणे में एक सभा का आयोजन किया। उसमें गिने–चुने 50 से 60 लोग उपस्थित हुए। ज्योतिबा ने उस सभा में संगठन के उद्देश्यों का विस्तृत विवेचन करते हुए

अछूतों के लिए खोला गया महात्मा फुले के मकान में स्थित हौज (कुआँ)

बताया कि धार्मिक तथा सामाजिक गुलामी को जड़ सहित उखाड़कर फेंकना और उपनिवेशवाद को समाप्त करना सत्यशोधक समाज का मुख्य उद्देश्य होगा। पर्याप्त विचार–विमर्श और वाद–विवाद के बाद समाज के गठन का निर्णय किया गया। इस प्रकार दिनांक 24 सितम्बर, 1873 को 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की गई।[43]

धीरे–धीरे गुण तथा कुशलता प्राप्त करने और उद्योग व्यवसाय को अपनाने का विचार ही त्याग दिया जिसके परिणामस्वरूप कनिष्ठ जातियों में इन गुणों का लोप हो गया।[44]

जन्मजात श्रेष्ठता की धारणा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए फुले लिखते है कि ''कई देशों की सभी नदियां अन्त में महासागर में मिल जाती है। ऐसी स्थिति में कोई एक नदी पवित्र या श्रेष्ठ कैसे हो सकती है।''[45]

सत्यशोधक समाज में सिद्धान्त रूप में निम्नलिखित बातें सम्मिलित थी–

- ''कोई भी ग्रंथ ईश्वर रचित नहीं है।
- ईश्वर साकार रूप में अवतार नहीं लेता है।
- पुनर्जन्म की धारणा, कर्मकाण्ड, जप–तप अज्ञानमूलक है।''[46]

भारतीय समाज में सभी जगह यह धारणा बनी हुई थी कि पुरोहित द्वारा संस्कृत में मंत्र आदि उच्चारित किये बिना ईश्वर से साक्षात्कार संभव ही नहीं है। ज्योतिबा ने इस संबंध में लोगों से कहा कि यह बात ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि और श्रेष्ठता कायम रखने के लिए ही फैलाई है। यदि केवल संस्कृत भाषा को ही ईश्वर समझता है, तो क्या ईसाई, मुसलमान, यहूदी

आदि द्वारा उनकी अपनी भाषा में की गई प्रार्थनायें और आराधना ईश्वर की पहुंच के परे है। अर्थात् ईश्वर तक नहीं पहुंचती है।[47]

शादी–विवाह के संबंध में सत्यशोधक समाज की तत्व प्रणाली में यह भी कहा गया है कि आज कल होने वाले विवाह आदि में व्यय कम किया जाये और शादी विवाह बिना किसी बिचौलिये जैसे–पण्डित, पुरोहित आदि के सम्पन्न कराये जायें। ये समारोह मराठी में और लोगों की सहायता द्वारा सम्पन्न कराये जायें।[48]

इस प्रकार सत्यशोधक समाज द्वारा बनाई गई पद्धति निः सन्देह क्रान्तिमय थी। ज्योतिबा द्वारा विवाह संस्था में दलालों को नकारकर पुरोहितवृति को एक बहुत बड़ा धक्का दिया गया। इस विवाह पद्धति का सबसे अधिक क्रांतिकारी पहलु था गांव में होने वाले शादी विवाह में सभी ग्रामीण जातियों का समभाव से सहभागी होना। उदाहरण स्वरूप दूल्हे के बाल गांव के नाई से कटवाये जाये, विवाह के दिन गांव की धोबिन वर के मण्डप में वस्त्र के आसन पर अनाज का चौक पूरा कर उस पर वर को बैठाये और उसके हाथ में कंकन बांधे। वर द्वारा वधू के गांव पधारने पर गांव की महारिन अछूत जाति की स्त्री हाथ में पूजा की थाली लेकर उसकी आरती उतारे। विवाह सम्पन्न होने के उपरान्त वर–वधू तथा बरातियों समेत खूब आनन्द मंगल के साथ शूद्र अतिशूद्र से लेकर ईसाई, मुसलमान, पारसी, ब्राह्मण, भाईयों के साथ बच्चों, अंधे, लगड़े–लूलों आदि को वगैर किसी भेदभाव के दान देते हुए अपने गांव प्रस्थान करे। ज्योतिबा की यह विचार प्रणाली सर्वजाति समभावपरक थी।[49]

अछूत स्त्री महारिन द्वारा वर की आरती उतारना तत्कालीन पण्डे पुरोहितों द्वारा बनाई विवाह पद्धति में शुभ–अशुभ के विचारों को धक्का देने वाली थी। ज्योतिबा की इस विचार प्रणाली से यह प्रतीत होता है कि वे समाज से जाति भेद समूल नष्ट करना चाहते थे। विवाह जैसे आवश्यक परम्परा से पूर्व प्रचलित मान्यताओं और धारणाओं को समाप्त कर एक नई व्यवस्था कायम करना चाहते थे, ऐसी व्यवस्था जो सर्वजातिसभाव से युक्त हो। अपने विचारों वाली विवाह पद्धति को अमली जामा पहनाते हुए ज्योतिबा ने अपने एक अनपढ़ विधुर रिश्तेदार का सत्यशोधक समाज के तत्वाधान में विवाह सम्पन्न कराया।

एक दूर का रिश्तेदार, जिसका नाम सीताराम था, वह उनकी दुकान पर नौकर था। कम आयु में विधुर हो जाने के कारण ज्योतिबा फुले ने पहले उस अनपढ़ व्यक्ति को लिखना–पढ़ना सिखाया और फिर उसका विवाह तय कराया। वधू की माँ ज्योतिबा की पत्नी सावित्रीबाई की सहेली थी उन्होंने वधू की माँ को सत्यशोधक समाज की विवाह पद्धति से अपनी बेटी की शादी करने के लिये तैयार किया।[50]

बिना पुरोहित विवाह सम्पन्न कराने की बात की भनक जब ब्राह्मणों को लगी तो इससे पुरोहितों में बहुत ही उथल–पूथल मच गई। इस प्रकार बिना पुरोहित शादी सम्पन्न कराने का अर्थ था विवाह जैसे सामाजिक बंधन वाली महत्वपूर्ण और आवश्यक परम्परा से ब्राह्मणों, पुरोहितों के एकाधिकार को समाप्त करना तथा इस कार्य से होने वाली उनकी अंधी कमाई और पुरोहितों ने वधू के पिता को इस शादी के खिलाफ भड़काया। उन्होंने वधू के पिता से

कहा कि इस प्रकार सम्पन्न हुई शादी न केवल गैर कानूनी होगी बल्कि अमंगलकारी और धर्म विरूद्ध भी होगी।

ब्राह्मणों, पुरोहितों के दबाव के बावजूद भी 5 सितम्बर सन् 1873 को वह शादी सम्पन्न हुई। इस शादी में खर्च के नाम पर केवल पान सुपारी का व्यय हुआ। विवाह समारोह सादा और सरल ढ़ंग से सम्पन्न हुआ। वर और वधू ने एक–दूसरे के प्रति निष्ठापूर्वक आचरण करने की प्रतिज्ञा ली। समारोह में उपस्थित बारातियों ने वर–वधू को आशीर्वाद दिया। इस मंगलकार्य में सत्यशोधक समाज के अधिकांश सदस्य उपस्थित थे। उपस्थित जन समूह द्वारा वर–वधू को अनेकानेक उपहार भी प्रदान किये गये। इस प्रकार ज्योतिबा फुले ने बिना खर्च व आड़म्बर आदि के विवाह सम्पन्न कराया।[51] पण्ड़े पुरोहित हाथ मलते रह गये और ज्योतिबा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके।

उपर्युक्त विवाह सम्पन्न कराने के पश्चात् एक और विवाह ज्योतिबा ने सत्यशोधक समाज की विवाह पद्धति से कराने का निश्चय किया। पुणे के निकट हड़पसर नामक गांव के निवासी युवक श्री ग्यानोबा कृष्णाजी का विवाह सत्यशोधक समाज की विवाह पद्धति से होना तय हुआ लेकिन ब्राह्मणों को इसकी भनक लगने पर उन ब्राह्मण पुरोहितों ने एक चालाकी चली कि कुछ घुड़सवारो को हड़पसर भेजा और उनके द्वारा श्री ग्यानोबा को कहलवाया कि यह शादी जो पुरोहित के बिना सम्पन्न होगी, धर्म विरूद्ध है। गाँव के लोगों को भी घुड़सवारों ने बहकाया–फुसलाया जिससे गांव के कुछ दुष्ट प्रवृत्ति के लोगों ने ग्यानोबा से इस शादी को न करने के लिए कहा और सलाह दी कि अगर तुमने यह शादी की तो गांव समाज के लोग तुम्हें बहिष्कृत कर देंगे और तुम गांव से निकाल दिये जाओगें।

इस धमकी से भयभीत ग्यानोबा ज्योतिबा के पास पहुंचा। उसने गांव में अपने साथ हुई घटना का सारा वृतान्त उन्हें बताया। ज्योतिबा ने उसे अपनी तथा सरकार की ओर से पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने का आश्वासन दिया। तत्पश्चात् ज्योतिबा फुले अपने कुछ प्रचारकों को साथ लेकर हड़पसर गये और वहां उन्होंने खेतों और खलिहानों में जाकर ग्रामीण लोगों को इस संबंध में समझाया। इससे वहां को वातावरण परिवर्तित हुआ। विवाह की तिथि को ज्योतिबा ने पुलिस आदि का प्रबन्ध कर लिया था। ऐसा उन्होंने इसलिए किया था कि जिससे कोई भी अराजक तत्व विवाह में विघ्न उत्पन्न कर सके।

इस प्रकार यह विवाह भी बिना किसी विघ्न–बाधा के सकुशल सम्पन्न हुआ। इस विवाह में भी ज्योतिबा के अनेक अनुयायी अपने समर्थकों के साथ बहुत बड़ी संख्या में तथा अन्य जन भी सम्मिलित हुए।[52]

सत्यशोधक समाज का गढ़ कही जाने वाली जुन्नर तहसील जो पुणे से कुछ ही दूरी पर स्थित थी, यहां के एक सत्यशोधक श्री बालाजी कुसाजी पाटील ने भी अपनी पुत्री का विवाह बिना पुरोहित सम्पन्न कराया। इस कार्य से तो सम्पूर्ण महाराष्ट्र में ही उथल–पुथल मच गई। कट्टरपंथी धर्म के ठेकेदारों के तो होश उड़ गये।

श्री बालाजी कुसाजी पाटिल के इस कृत्य के पश्चात् पुणे तथा कुछ अन्य जगह के पुरोहितों ने संबंधित ग्रामयोजक को आर्थिक सहायता प्रदान कर उसे पाटिल के खिलाफ पुणे के सब–जज के न्यायालय में मुकदमा कायम करने को तैयार किया। मुकदमें का आधार निम्न दो मुद्दे थे।

इस प्रकार से विवाह सम्पन्न कराने का ब्राह्मण का अधिकार छीन लिया जाना। विवाह में मिलने वाली दक्षिणा से वंचित होने के कारण ब्राह्मण, पुरोहित की होने वाली क्षति की पूर्ति किया जाना।

पुणे के न्यायालय में इस मुकदमें की सुनवायी शुरू हुई तो सत्यशोधक समाज को कोई भी वकील उपलब्ध नहीं हो सका। अतः सत्यशोधक समाज सही ढंग से अपना पक्ष अदालत के सम्मुख नहीं रख पाया और मुकदमें को एकतरफा फैसला होने का एक कारण यह भी था कि न्याय देने वाले सब–जज साहब भी ब्राह्मण ही थे।

उपर्युक्त निर्णय के खिलाफ बाद में फर्स्ट सब–जज की अदालत में अपीज की गई। इस अदालत के जज श्री खानबहादुर एम.एन. नानावटी थे। उन्होंने निचली अदालत को निर्णय अलग रखकर सत्यशोधक समाज के पक्ष मे फैसला सुनाया। तब पुरोहित समाज द्वारा बाम्बे हाईकोर्ट में अपील दायर की गई। हाईकोर्ट में लम्बित मुकदमें के दौरान सत्यशोधक समाज की ओर उसे हिन्दू धर्मग्रन्थों में उल्लिखित बहुत से अनुकूल आधार दिखाए जो सत्यशोधक समाज के पक्ष में निर्णय देने के लिये पर्याप्त थे। दोनों और से मुकदमें की बहस सुनी गई और जनवरी सन् 1890 को हाईकोर्ट ने अपना फैसला सुनाया कि, ''दूसरी जातियों के बिना पुरोहित विवाह रचा सकते हैं। और विवाह मे पुरोहिताई न करने की स्थिति में पुरोहित दक्षिणा की मांग नहीं कर सकते हैं।''[53]

हाईकोर्ट के इस फैसले से महाराष्ट्र को विवाह आदि के संबंध में एक नया दृष्टिकोण मिला। धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय पर अकुंश लगा। यह

न्यायिक निर्णय सुधारवाद के पक्ष में था। जिससे सामाजिक कट्टरता की पराजय हुई।

9. देवदासी प्रथा पर प्रहार :

देवदासी प्रथा हिन्दू समाज का कलंक रही है। देवदासियां मंदिरों में देवप्रतिमाओं की पूजा–अर्चना के लिए बचपन में ही समर्पित हो जाती थी। पुजारी उनका दैनिक शोषण करते थे। सामाजिक सुधार की कड़ी में देवदासी प्रथा पर भी महात्मा ज्योतिबा फुले ने प्रहार किये। देवदासियों उस समय मंदिर के पुजारियों, पुरोहितों की वासना की पूर्ति का साधन मात्र थी। समाज को दिखाने के लिए वे मंदिर की साफ–सफाई और अन्य व्यवस्था में पुजारियों की सहायक थी तथा भजन–कीर्तन–नृत्य आदि किया करती थी, लेकिन वास्तविकता कुछ और ही थी। वे ऐसी स्त्रियाँ थी जो बेचारी सामाजिक परिवेश में पीड़ित और शोषित हुआ करती थीं। वे अपनी अस्मत बचाने तथा जीवन निर्वाह के लिये प्रभु की शरण में जाने के उद्देश्य से मंदिर की शरण में जाती थी, लेकिन वहां भी उन्हें ब्राह्मण और पुजारियों की वासना शान्त करने के घिनौने कृत्य का सामना करना पड़ता था।

देवदासी प्रथा पर ज्योतिबा द्वारा किये गये कठोर प्रहार से संबंधित एक घटना का जिक्र इस प्रकार है– ''एक बार श्री बालाजी पाटील के विरूद्ध ग्रामयोजक के मुकदमें में बम्बई के उच्च न्यायालय मे सुनवायी हो रही थी, तब की बात है। ज्योतिबा बग्घी की सवारी से बाजार की ओर जा रहे थे। उनके साथ सर्वश्री नारायणराव लोखंडे, आनन्दराव तालचेरकर, यशवन्तराव मणेरीकर भी थे। रास्ते में गाजे–बाजे के साथ उन्हें शान से जा रही एक शोभायात्रा दिखाई दी। एक धनवान माता स्वर्ग प्राप्ति की आशा से अपनी बेटी

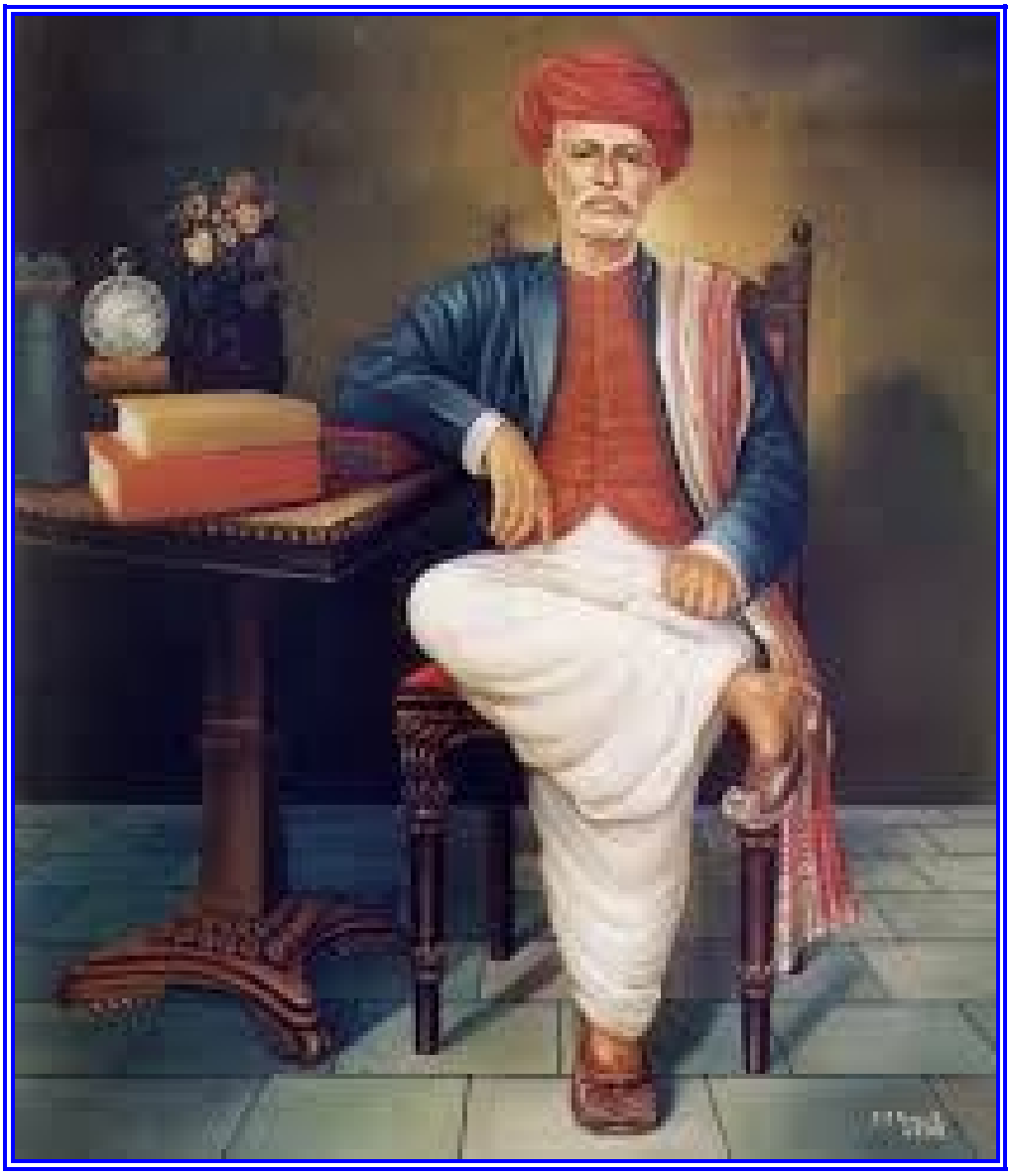

का विवाह भगवान से कराने जा रही थी। उक्त शोभा यात्रा उसी लड़की की थी।[54]

उक्त वक्त बम्बई में भगवान की मूर्ति के साथ विवाह कराके लड़कियों को देवदासी बनाने की प्रथा जोरों पर थी। संबंधित लड़कियां भगवान की दासियां तो क्या बनती, योगदासियां अवश्य बन जाती और वैश्या व्यवसाय में फंस जाती थी। इस प्रथा के कारण कई ऊँचे कुल की कन्याएं वेश्यालयों की अंधेरी कोठरियों में कैदी का जीवन बिता रही थी। श्री आनन्दराज ज्योतिबा से बोले, ''स्वयं माँ–बाप ही भगवान और धर्म के नाम पर अपनी बेटियों को नरक में धकेल देते हैं। क्या इस प्रथा को रोकने के लिए आप कुछ नहीं कर सकते?''

यह बात सुनते ही ज्योतिबा ने बग्घी वाले से पुलिस थाने चलने को कहा, पलिस अधीक्षक अंग्रेज थे, लेकिन वह थाने में नहीं, घर पर था। ज्योतिबा के साथ जाने वाले श्री मणेरीकर उसे मराठी पढ़ाते थे, इस बात का पता चलने पर ज्योतिबा ने बग्घी वाले से पुलिस अधीक्षक के घर चलने को कहा।

पुलिस अधीक्षक ने ज्यातिबा की बात सुन ली, लेकिन उसमें इस विवाह को रोकने की हिम्मत नहीं थी। तब उसे लेकर ज्योतिबा मुम्बई के पुलिस आयुक्त से मिलने गये। ज्योतिबा ने उन्हें समझाया कि धर्म की आड़ में नयी–नयी युवतियों का प्रबन्ध करते रहते हैं, अतः इस प्रथा को रोकना नितान्त आवश्यक है।[55]

ज्योतिबा का इस घिनौनी प्रथा के विरूद्ध तर्क सुनकर और सारी परिस्थितियों को समझकर उस पुलिस आयुक्त ने पुलिस अधिकारियों को इस विवाह को तत्काल रूकवाने का आदेश दिया। पुलिस अधिकारी आयुक्त का आदेश पाकर तुरन्त घटना स्थान पर रवाना हुए और उन्होंने उस तथाकथित विवाह को रूकवाया।[56]

ज्योतिबा को अपनी सफलता पर बड़ा संतोष हुआ, लेकिन इस घटना से बम्बई नगर में बड़ी खलबली मच गई। मंदिर के पुजारी और पुरोहित तथा उनके सहयोगी पुरूष बहुत ही बैचेन हो गये। पुजारियों का कहना था कि, यह प्रथा एक धार्मिक प्रथा है। देवदासियां बनना तो धार्मिक कृत्य है। ऐसे धार्मिक कृत्यों पर अगर प्रतिबंध लगा तो धर्म डूब जायेगा। इस घटना से गरीब, अज्ञानी, धार्मिक जन भी चिंता में पड़ गये। समाचार–पत्रों ने भी इस मामले को काफी बढ़ा–चढ़ाकर उछाला और शोर मचाया कि अब विदेशी सरकार हमारे धर्म में भी हस्तक्षेप करने लगी है और हमारी पुरानी प्रथाओं को रोक कर हमारे धर्म पर आक्रमण कर रही है।[57] ज्योतिबा की ये सारी प्रतिक्रियाएं अपेक्षित थी।

10. राजस्थान में स्त्रियों की स्थिति –

राजस्थान के सामाजिक जीवन में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान था। कालान्तर में स्त्रियां पर्दा प्रथा, बाल–विवाह, बहुविवाह, सती–प्रथा, कन्या वध आदि कुरीतियों का शिकार बन गई तथा उनकी दशा शोचनीय होती चली गयी।[58]

कर्नल टॉड का कथन है कि, ''राजस्थान में स्त्रियों को राजपूतों ने जो सम्मान दिया, वह किसी दूसरे देश मे नहीं मिलता। संसार में किसी भी जाति ने स्त्रियों को उतना आदर नहीं दिया जितना राजपूतों ने।''

प्राचीन काल से ही बड़े राजघराने की लड़कियों की शिक्षा के बारे में विशेष ध्यान दिया जाता था। धार्मिक, नैतिक एवं आदर्श आचरण की शिक्षा देने पर बल दिया जाता था। किन्तु ग्रामीण एवं निम्न वर्गीय समाज की स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार बहुत कम था। अनेक स्त्रियां शासन–कार्य भी सम्भालती थी। आक्रमण के समय भी राजपूत स्त्रियां अपने साहस, शौर्य आदि का परिचय देने में आगे रहती थी।[59] डॉ. ओझा का कथन है कि, ''पद्मिनी ने जिस कुशलता के साथ रतनसिंह को अलाउद्दीन के चगुंल से छुडाया, उससे इतिहास का कौन विद्यार्थी परिचित नहीं है, चितौड़, रणथम्भौर, जालौर आदि दुर्ग इस बात के परिचायक हैं कि भयानक आक्रमणों के समय उस समय की राजपूत वीरांगनाओं ने हँसते–हँसते जौहर किया।''[60]

राजस्थान में स्त्रियां बाल विवाह, बहुविवाह, सती प्रथा, कन्या वध, दहेज प्रथा, विधवाओं की दुर्दशा, तलाक प्रथा, वेश्यावृति, डाकन प्रथा, त्याग प्रथा, स्त्रियों का क्रय–विक्रय, घरेलु दास प्रथा, पर्दा प्रथा, सामन्त प्रथा, बेगार प्रथा, सामाजिक भेदभाव एवं अस्पृश्यता आदि अनेक कुरीतियों की शिकार बन गई तथा उनकी दशा दिन–प्रतिदिन बिगड़ती चली गई।[61]

सामाजिक सुधार के प्रयास :

दक्षिण भारत में महात्मा ज्योतिराव फुले एवं पाश्चात्य सभ्यता एवं सांस्कृतिक प्रभाव के फलस्वरूप राजस्थान में समाज सुधार आन्दोलनों को

प्रोत्साहन मिला। 1888 ई. में कांग्रेस की प्रतिवर्ष होने वाली बैठक के साथ राष्ट्रीय समाज सुधार का अधिवेशन होने लगा। इस परिषद के प्रमुख नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे। इसके अतिरिक्त राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, ज्योतिबा फुले, डॉ. अम्बेडकर आदि ने सामाजिक कुरीतियों के निवारण पर बल दिया।[62]

1. सती प्रथा :

19वीं शताब्दी के आरम्भ तक राजस्थान में सती प्रथा का प्रचलन था। राजपूत जाति में इसका सर्वाधिक प्रचलन था। अनेक राजपूत महिलाऐं अपने पति के मृत्यु के पश्चात् चिता में जल कर अपने प्राण त्याग दिया करती थीं। सती होने के पीछे अनेक कारण थे। स्त्री का यह धार्मिक कर्तव्य माना जाता था कि वह परलोक में भी अपने पति का साथ दे। अतः सती होने वाली महिलाओ की यह मान्यता थी कि सती होने से अपने पतियों के साथ स्वर्ग में जायेगी। परिवार में विधवाओं की दशा शोचनीय थी। उन्हें हीनता तथा घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उच्च जातियों मे विधवा विवाह निषिद्ध था तथा राजपूत जाति में स्वामी की मृत्यु के पश्चात् विधवाओं तथा उप–पत्नियाँ की देखभाल करने वाला कोई नहीं होता था। अतः ऐसी अवस्था में आत्मदाह का मार्ग अपनाने पर विवश हो जाती थी। इसके अतिरिक्त अनेक स्त्रियाँ युद्ध के अवसरों पर अपने पति के मर जाने पर शत्रुओं द्वारा अपमानित किये जाने की आशंका से भी चिता में जल कर मर जाया करती थीं महाराणा प्रतापसिंह, महाराणा अमरसिंह द्वितीय, राणा जगतसिंह, राणा राजसिंह, राणा अरसिंह, राव मालदेव, महाराजा जसवतसिंह, अभय सिंह, अजीतसिंह आदि राजपूत नरेशों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अनेक पत्नियाँ सती हो गयी थीं। लोक भय के कारण

भी कुछ स्त्रियाँ पति के साथ चिता में जल जाया करती थीं। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि आमली जागीर के सामन्त ने एक ब्राह्मणी पर आत्मदाय के लिए दबाव डाला था। इसी प्रकार कई उदाहरण इसी की पुष्टि करते हैं कि सती होने का एक कारण सामाजिक दबाव भी रहा था।[63]

परन्तु सती प्रथा न तो अनिवार्य थी और न ही कर्तव्यपरायणता से बंधी हुई थी। तत्कालीन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि कई विधवा रानियाँ पति की मृत्यु के पश्चात् भी लम्बे समय तक जीवित रहीं और उनके जीवन–निर्वाह के लिए जागीरों की व्यवस्था की गई थी। परन्तु राजपूत समाज में सती प्रथा का बहुत अधिक प्रचलन था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि, ''इस प्रथा का कोई समर्थन किसी विशेष समय या परिस्थिति में रहा हो, परन्तु इस प्रथा मे बलात्कार और सामाजिक बन्धन बड़े घातक थे जिससे मध्य युग में असंख्य अबोध अबलाओं को अपने जीवन से हाथ धोने पड़े। नैतिक और न्याय के आधार पर हम इस प्रथा का समर्थन नही कर सकते।'' ब्रिटिश संरक्षण के बाद राजस्थान में सती प्रथा धीरे–धीरे कम होती गई। 1829 में भारत के तत्कालीन जनरल लार्ड विलियम बैटिंक ने सती प्रथा को अवैध घोषित कर दिया।[64]

1830 में अलवर राज्य में सबसे पहले सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया। 1845 में जयपुर राज्य में तथा 1860 में उदयपुर राज्य में सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया। इसी प्रकार डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, कोटा आदि राज्यों में भी सती प्रथा को अवैध घोषित किया गया। इस प्रकार राजस्थान में सती प्रथा प्रायः बन्द हो गई।[65]

2. बाल–विवाह :

समाज में बाल–विवाह प्रचलित थे। 'चांद कुंवर की वार्ता' से ज्ञात होता है कि महाजन जाति के एक व्यापारी ने 9 वर्ष की कन्या के साथ विवाह किया था। 19वीं शताब्दी के प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि कन्याओं का विवाह 15 वर्ष की अवस्था से पूर्व हो जाया करता था। बाल विवाहों का सबसे अधिक दुष्परिणाम लड़की को भुगतना पड़ता था। वह उचित शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकती थी। बाल विवाह के कारण उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाता था। कम आयु में उन्हें बच्चे पैदा करने पड़ते थे, जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता था। अनेक स्त्रियों की तो मृत्यु हो जाती थी। राजस्थान के समाज सुधारक श्री हरबिलास शारदा के प्रयासों से सरकार ने 1929 में बाल विवाह निरोधक अधिनियम पास किया। जो अप्रैल, 1930 में सम्पूर्ण भारत में लागू हो गया। यह अधिनियम 'शारदा एक्ट' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अनुसार 18 वर्ष से कम के लड़के तथा 14 वर्ष से कम लड़की का विवाह वर्जित है। वर्तमान में विवाह की आयु 21 वर्ष और 18 वर्ष है। इसके पश्चात् भी राजस्थान में प्रतिवर्ष हजारों बाल–विवाह होते हैं। अब शिक्षित तथा प्रगतिशील लोग बाल–विवाह के विरूद्ध होते जा रहे है।[66]

3. दहेज प्रथा :

समाज में दहेज प्रथा भी प्राचीन काल से प्रचलित थी। दहेज परिवार की प्रतिष्ठा तथा सम्पन्नता का प्रतीक समझा जाता था। सामान्यतः सभी लोग अपनी स्थिति के अनुसार अधिक से अधिक दहेज देने का प्रयत्न करते थे, परन्तु राजपूतों में दहेज का प्रचलन अधिक था। धीरे–धीरे दहेज प्रथा ने विकराल रूप धारण कर लिया और निर्धन परिवारों में लड़कियाँ उत्पन्न होना

अभिशाप माना जाने लगा। दहेज प्रथा के कारण अनेक कन्याओं को दहेज की वेदी पर बलि होना पड़ रहा है। इसी प्रथा ने कन्या वध की अमानवीय प्रथा को भी जन्म दिया।[67]

दहेज हिन्दू समाज पर एक बहुत बड़ा कलंक है जिसे समाप्त किया जाना चाहिए। डॉ. उल्तेकर का कथन है कि, ''हिन्दू समाज के लिए यह उचित समय है कि दहेज की दूषित प्रथा को जिसने अनेक अबोध कन्याओं को आत्महत्या के लिए प्रेरित किया है, समाप्त कर दे।'' इस प्रथा को समाप्त करने के लिए स्त्री शिक्षा पर बल, जीवन साथी के चुनाव की स्वतंत्रता, प्रेम विवाह को प्रोत्साहन, अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन, शिक्षा का प्रसार, दहेज के विरूद्ध कठोर कानूनों का निर्माण एवं पालन, समाज सुधारकों के प्रयास, स्वस्थ जनमत और युवा वर्ग को आगे आना चाहिए।

4. बहुविवाह :

तत्कालीन राजस्थान के समाज में बहुविवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। राजपूत नरेश तथा सामन्त अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे। महाराणा प्रताप के 11, संग्रामसिंह द्वितीय के 16, अरसिंह के 8, रामसिंह के 6 तथा उभयसिंह के 12 पत्नियाँ थी। सामन्त तथा धन–सम्पन्न व्यक्ति भी अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे। इस बहु–विवाह प्रथा के कारण स्त्रियों की दशा शोचनीय बनी हुई थी। इससे पारिवारिक जीवन क्लेशपूर्ण हो जाता था। इससे पारिवारिक जीवन क्लेशपूर्ण हो जाता था। राजमहलों में गृह कलह, षड्यन्त्र, परस्पर ईर्ष्या, द्वेष आदि का वातावरण बना रहता थ तथा पतियों और पुत्रों को विष देने की घटनायें होती रहती थी। बहुविवाह प्रथा के कारण रावमालदेव तथा

महाराणा प्रताप की मृत्यु के पश्चात् उनकी सन्तानों में गद्दी के लिए संघर्ष हुआ था।[68]

5. कन्या वध का अन्त :

राजस्थान में 19वीं शताब्दी के मध्य तक कन्या वध की कुप्रथा सीमित मात्रा में प्रचलित थी। राजपूत जाति में यह प्रथा अधिक प्रचलित थी। कुछ विद्वानों के अनुसार, 'त्याग' की प्रथा तथा 'टीके' की प्रथा के कारण कन्या वध की प्रथा प्रचलित थी। कर्नल टाड ने राजपूतों में जागीरों के छोटे–छोटे टुकड़ों में बंट जाने तथा अपनी पुत्रियों के लिए उचित देहज देने में असमर्थ रहने को कन्या वध का कारण बताया है। कुछ समकालीन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि राजपूत अपनी पुत्री का विवाह उच्च कुल में करने तथा अपनी क्षमता से अधिक धन खर्च करने की महत्वाकांक्षा के कारण कन्या वध को सहारा लेते थे। 1864 ई में अलवर के शासक ने खुले दरबार में 'त्याग' अथवा चारणों की मांगों को कन्या वध के लिए उत्तरदायी माना था। उनका कहना था कि त्याग की मांग के भय से कन्या वध की प्रथा प्रचलित थी।

राजस्थान में अंग्रेजी संरक्षण की स्थापना के बाद इस कुप्रथा के अन्त के लिए आवश्यक कदम उठाये गये। सर्वप्रथम 1834 ई. में कोटा राज्य में कन्या वध को अवैध घोषित किया गया। इसके बाद 1837 ई. में बीकानेर में इस प्रथा को गैर–कानूनी घोषित किया गया। 1839 में जोधपुर में भी इस कुप्रथा को अवैध घोषित किया गया। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के मध्य तक लगभग सभी राज्यों ने इस कुप्रथा को अवैध घोषित कर दिया था। 1865–67 में पहली प्रशासनिक रिपोर्ट में ए.जी.जी. ने कहा कि पिछले 30 वर्षों में राजस्थान में कन्या वध की कुप्रथा कम होती रही है।[69]

6. विधवाओं की दुर्दशा :

उच्च वंश के राजपूतों में विधवा विवाह प्रचलित नहीं था। यद्यपि व्यावसायिक जातियों में विधवा विवाह का प्रचलन था। समाज में विधवाओं की दशा अच्छी नहीं थी। उन्हें घृणा एवं हीनता की दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें अपने पति की सम्पति में कोई अधिकार नहीं था। वे अच्छे वस्त्र नहीं पहन सकती थीं और न ही श्रृंगार प्रसाधनों का प्रयोग कर सकती थीं। उन्हें रूखा–सूखा भोजन तथा फटे पुराने वस्त्रों से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था। उन्हें बड़ा कठोर तथा नियन्त्रित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। मांगलिक अवसरों पर विधवाओं को मुंह देखना अशुभ माना जाता था। उन्हें भगवान की भक्ति में ही लगे रहने को तथा घरों में दासियों की भांति काम करने को ही विवश किया जाता था। उनके लिए उत्तम स्वादिष्ट भोजन, श्रृंगार एवं रंग–बिरंगे वस्त्र पहनना निषिद्ध था। सामाजिक उपहास का जीवन व्यतीत करना, अपने दुर्दिनों पर आंसू बहाना आदि यही बातें उनके भाग्य में लिखी थीं। 1829 ई. में सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित करने के बाद तो इनकी स्थिति और खराब हो गई। अब विधवा सती भी नहीं हो सकती। इस प्रथा को समाप्त करने के लिए भारत के समाज सुधारक आगे आये और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयास से 1856 में विधवा पुनर्विवाह कानून बना। राजस्थान में आर्य समाज एवं तत्कालीन संस्थाओं एवं महाराजाओं के सहयोग से विधवाओं की दशा सुधारने का प्रयास किया कोटा और जोधपुर के पुरालेखों से ज्ञात होता है कि 19वीं शताब्दी में अनेक विधवाओं को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जाती थी। जयपुर के शासक सवाई जयसिंह द्वितीय ने विधवाओं

के पुनर्विवाह पर बल दिया, परन्तु उन्हें अपने प्रयासों में विफलता का मुंह देखना पड़ा।[70]

7. डाकन प्रथा :

राजस्थान में विशेषतः भोमट, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, कोटा और सिरोही राज्यों में भील, मीणा आदि जातियों में स्त्रियों पर डाकन होने का आरोप लगा कर उनको मार दिया जाता था। यदि कोई बीमार होता था तो भोपा से 'पूछ' होने पर किसी स्त्री के 'झपेट' में आने का सन्देह होता था तो उसकी हत्या कर दी जाती थी। उन्हें कभी पेड़ से लटका कर जिन्दा जला दिया जाता था। यदि वह अपना अपराध स्वीकार कर लेती थी तो उसे गांव से बाहर निकाला जाता था। ऐसे दण्ड देने में डाकन मानी गई महिला के रिश्तेदार भी उसकी हत्या का अनुमोदन करते थे। 1851 में सपला भील ने अपनी दादी को मार दिया। इस प्रकार जगह–जगह महिलाओं को डाकन होने के सन्देह में मारने की घटना बढ़ने लगी। तथा सन्देह के आधार पर निर्दोष स्त्रियाँ मौत का शिकर होने लगी।

इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए सर्वप्रथम 1853 में उदयपुर राज्य में डाकन प्रथा को गैर–कानूनी घोषित किया गया। किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तक यह कुप्रथा समाप्त नहीं हुई। तत्कालीन ए.जी.जी. ने भारत सरकार से इस प्रथा के उन्मूलन के लिए आवश्यक कार्यवाही करने की मांग की। इसी प्रकार कोटा जयपुर आदि राज्यों में भी डाकन प्रथा को गैर–कानूनी घोषित कर दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार समाज सुधारक संस्थाओं के सहयोग से इस कुप्रथा का पूर्णतया उन्मूलन हो गया।[71]

8. त्याग प्रथा का नियमन :

राजस्थान में राजपूत जाति में चारण, भाट, ढोली आदि लोग विवाह के अवसरों पर आ जूटते थे तथा कन्या–पक्ष वालों से मुंहमांगी दान–दक्षिणा के लिए हठ करते थे। इसी कुप्रथा को 'त्याग' कहा जाता था। त्याग पूर्ति के लिए राजपूतों को विपुल धनराशि खर्च करनी पड़ती थी जिससे उनकी आर्थिक दशा दयनीय हो जाती थी। यह त्याग प्रथा कन्या वध के लिए उत्तरदायी थी। अतः ब्रिटिश अधिकारियों ने राजपूत, नरेशों के सहयोग से इस कुप्रथा के उन्मूलन के लिए भरसक प्रयास किये। सर्वप्रथम 1841 ई. में जोधपुर राज्य में त्याग के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक नियम बनाये गये तथा इन नियमों के उल्लंघन करने वालों के विरूद्ध कठोर कार्यवाही की व्यवस्था की गई। 1844 ई. में बीकानेर तथा जयपुर में भी ऐसे नियम बनाये गये। 1844 ई. से 1860 के बीच उदयपुर के महाराणाओं ने भी इस सम्बन्ध में राजकीय आदेश जारी किये जिनके अनुसार दूसरे राज्यों से उदयपुर राज्य में चारणों व भाटों को आने से रोक दिया गया तथा उदयपुर के चारणों व भाटों को त्याग मांगने के लिए अन्य राज्यों में जाने से रोक दिया।[72]

9. कन्याओं तथा स्त्रियों का क्रय–विक्रय :

19वीं शताब्दी के मध्य तक राजस्थान में स्त्रियों तथा कन्याओं को क्रय–विक्रय सामान्य रूप से प्रचलित था। अकाल व दुर्भिक्ष की स्थिति में भी स्त्रियों व कन्याओं को बेच दिया जाता था। कन्याओं तथ स्त्रियों को सामन्त तथा सम्पन्न लोग अपनी पुत्री के दहेज में दास–दासी देने के लिए खरीदते थे। कुछ लोग अपनी रखैले रखने के लिए स्त्रियाँ खरीदते थ। कुछ वेश्याएं अनैतिक पेशा करवाने के लिए कन्याएं खरीदती थीं। ब्रिटिश अधिकारियों ने

इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए राजस्थान के शासकों पर दबाव डाला। सर्वप्रथम 1847 ई. में जयपुर राज्य ने इस अनैतिक व्यापार को अवैध घोषित कर दिया। जोधपुर राज्य में भी इस प्रथा को अवैध घोषित कर दिया गया तथा इसका उल्लंघन करने पर 200 रूपया जुर्माना तथा एक वर्ष के कारावास की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार 1862 में कोटा राज्य में तथा 1863 में उदयपुर राज्य में भी इस कुप्रथा को अवैध घोषित किया गया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक यह कुप्रथा समाप्त हो गई।[73]

10. दास–दासी प्रथा :

राजस्थान में 19वीं शताब्दी में घरेलू दास–प्रथा भी प्रचलित थी। ये घरेलू दास–दासी राजपूतों की अवैध सन्तान थे और वंशानुगत सेवकों के रूप में अपने स्वामी की सेवा किया करते थे। इन्हें गोला, दरोगा, चाकर, दास आदि के नाम से पुकारा जाता था।[74] इनकी स्त्रियों को गोली, दरोगन, डावरी, बढारन आदि नामों से पुकारा जाता था। इन दासों को अपनी इच्छा से विवाह करेन की स्वतंत्रता नही थी। स्वामी दासी को अपनी पुत्री के विवाह पर दहेज में देता था या सुन्दर दासी को नाम के लिए किसी गोले से विवाह कर अपने रनिवास में डाल लेता था। जो दासियां उपपत्नी के रूप में स्वीकार कर ली जाती थी, उन्हें 'पडदायत', 'पासवान' कहा जाता था। अन्य दासियों को डावरी के रूप में जनाना महलों मे सेविका का जीवन व्यतीत करना पड़ता था या उन्हें राजाओं की पुत्रियों के दहेज में दे दिया जाता था। इन दास–दासियों की दशा बड़ी दयनीय थी।[75]

11. अस्पृश्यता :

जाति व्यवस्था के कारण राजस्थान में अपस्पृश्ता की प्रथा भी प्रचलित थी। इससे शूद्रों की दशा दयनीय बनी हुई थी। आर्य समाज ने अस्पृश्यता के उन्मूलन पर अत्यधिक बल दिया। स्वतंत्र भारत के संविधान में अस्पृश्यता को गैर–कानूनी घोषित किया गया है।

ज्योतिराव फुले ने अस्पृश्यता के विरूद्ध प्रबल आवाज उठाई। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी जो अस्पृश्यों को निम्न एवं तुच्छ समझते थे। उन्होंने उच्च जातियों के लोगों द्वारा दलितों पर किये जा रहे अत्याचारों की कठु आलोचना की। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राजकीय सेवाओं में सभी जातियों के लोगों को भर्ती किया जाए ताकि ब्राह्मणों एवं अन्य उच्च जातियों के एकाधिकार को समाप्त किया जा सके। उन्होंने 'मनुस्मृति' की भी आलोचना की जिसमें शूद्रो के लिए ब्राह्मणों की दासता स्वीकार करने पर बल दिया गया है।

फुलें ने 1873 में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की जिसका उद्देश्य अछूतों की दशा मे सुधार करना, उन्हे उनके अधिकारों के प्रति सचेत करना तथा उन्हें मानसिक एवं धार्मिक दासता से मुक्त करना था। इस संस्था ने ब्राह्मणवाद, जाति प्रथा, अस्पृश्यता का घोर विरोध किया तथा सामाजिक एवं धार्मिक समानता का प्रचार किया। इस संस्था ने दलित वर्ग में एक नवीन चेतना उत्पन्न की तथा उनमें आत्म सम्मान की भावना जागृत की ज्योतिराव फुले ने अछूत कन्याओं के लिए स्कूल खोलने तथा इस कार्य में उनकी धर्म पत्नी सावित्री बाई ने भी योगदान दिया। उनके इस कदम का सर्वव्यापी प्रभाव हुआ।[76]

राजस्थान में नारी उत्थान में आर्य समाज का योगदान

राजस्थान में आर्य समाज ने नारियों की दशा सुधारने पर अत्यधिक बल दिया। स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि नारी केवल समाज का ही निर्माण नहीं करती, बल्कि एक युग का भी निर्माण करती है। उन्होंने नारियों को पुरूषों के बराबर अधिकार दिये जाने पर बल दिया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिन्दू समाज में नारियों को गौरवपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। वे नारी स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने स्त्रियों के सामाजिक जीवन पर लगे अनुचित प्रतिबन्धों की निन्दा की। उनका कहना था कि स्त्रियों को वेदो का अध्ययन करने का अधिकार मिलना चाहिए। उन्होंने बाल विवाह, बहुविवाह, पर्दा प्रथा, सती प्रथा आदि का विरोध किया और विधवा विवाह तथा स्त्री शिक्षा का समर्थन किया।

आर्य समाज ने नारियों के लिए अनेक कार्यक्रम बनाये। आर्य समाज ने स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक आर्य वैदिक कन्या पाठशालाओं और महाविद्यालयों की स्थापना की। इसके अतिरिक्त आर्य समाज ने अनेक विद्यवाश्रमों की भी स्थापना की। आर्य समाज द्वारा अनेक विधवा स्त्रियों के विवाह वैदिक रीति से प्रतिवर्ष कराये जाते है। आर्य समाज की दृष्टि से हिन्दूओं के प्राचीन शास्त्रों में वैधव्य का कोई विधान नहीं है।

अतः आर्य समाज ने विधवा विवाह का प्रचार किया। राजस्थान में विधवा पुनर्विवाह के अनेक मामले 'आर्य मार्तण्ड' एव 'परोपकारी पत्रिका' में प्रकाशित हुए हैं।[77]

सामाजिक कुरीतियों का विरोध

आर्य समाज ने हिन्दू समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों, आडम्बरों एवं कुरीतियों का विरोध किया। आर्य समाज ने बाल विवाह, बहुविवाह, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, सती प्रथा आदि का विरोध किया। उन्होंने बाल–विवाह का विरोध करते हुए कहा कि यह नैतिक जीवन और शारीरिक विकास दोनों के लिए घातक है। उनका कहना था कि विवाह के लिए लड़कों की आयु 25 वर्ष तथा लड़कियों की आयु 16 वर्ष होनी चाहिए। राजस्थान में अजमेर के प्रसिद्ध आर्य समाजी नेता श्री हरबिलास शारदा ने बाल विवाह का घोर विरोध किया और उनके प्रयासों से 1929 में बाल–विवाह निरोधक अधिनियम पारित हुआ जो 'शारदा एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अधिनियम के अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु कम से कम 18 वर्ष तथा लड़की की आयु 14 वर्ष निर्धारित की गई। इससे कम आयु में सम्पन्न होने वाले विवाह को बाल–विवाह की संज्ञा दी गई और उसे दण्डनीय अपराध माना गया। इस अधिनियम से प्रभावित होकर जोधपुर राज्य तथा शाहपुरा राज्य ने भी बाल–विवाह प्रतिबन्धक कानून बनाये।

आर्य समाज ने दहेज प्रथा का भी विरोध किया। स्वामी दयानन्द ने दहेज प्रथा को हिन्दू समाज के लिए अभिशाप बताया और इसके उन्मूलन पर बल दिया। आर्य समाज ने पर्दा–प्रथा का भी विरोध किया। आर्य समाज के प्रयासों से स्त्रियाँ समाज के जलसों में बिना पर्दे के उपस्थित होने लगी। इसके अतिरिक्त पर्दा प्रथा का प्रभाव कमजोर होने से कन्याएं स्कूलों व महाविद्यलयों में जाने लगी एवं सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में पुरूषों के साथ भाग लेने लगी।[78]

नारी शिक्षा पर बल :

स्वामी दयानन्द तथा आर्य समाज ने नारी शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया। आर्य समाज के प्रयासों से राजस्थान के विभिन्न नगरों में वैदिक कन्या पाठशालाओं की स्थापना की गई। 1898 ई. में अजमेर में, ''श्री मथुराप्रसाद गुलाब देवी आर्य कन्या पाठशाला' की स्थापना की गई। ब्यावर में 'श्रीमती गोदावरी कन्या पाठशाला', जोधपुर में 'आर्य कन्या पाठशाला', सुजानगढ़ में 'आर्य पुत्री पाठशाला' आदि की स्थापना हुई।[79]

नारी उत्थान में देशहितेषनी सभा एवं राजपूत हितकारिणी सभा का योगदान :

राजस्थान में समाज सुधारों में देशहितेषनी सभा ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया था। 2 जुलाई, 1877 को उदयपुर में देश हितेषनी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने राजपूतों में विवाह के अवसर पर खर्च कम करना बहुविवाह पर नियम बनाना त्याग प्रथा पर प्रतिबन्ध आदि सामाजिक सुधार पर बल दिया।[80]

राजपूत हितकारिणी सभा :

इस सभा की स्थापना फरवरी, 1889 में अजमेर में हुई थी। राजस्थान के तत्कालीन ए.जी.जी. वाल्टर इस सभा के अध्यक्ष थे। इस सभा ने राजस्थान में प्रचलित बहुविवाह को पूर्णतया समाप्त कर दिया। इस सभा ने विवाह की आयु लड़के के लिए 18 वर्ष एवं लड़की के लिए 14 वर्ष निर्धारित की गई। इस सभा ने टीके तथा रीत की प्रथाओं को बिल्कुल समाप्त कर दिया। इस प्रकार राजस्थान में सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए तत्कालीन सामाजिक संस्थाएं एवं समाज सुधारक आगे आये जिनके योगदान से महिलाओं का उत्थान एवं शैक्षणिक जाग्रति आई।[81]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लक्ष्मणशास्त्री जोशी तर्क तीर्थ – नेशनल बायोग्राफी नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1992, पृ.सं. 77

2. धनंजय कीर – महात्मा ज्योतिबा फुले, दी फादर ऑफ इण्डियन सोशल रिवोल्यूशन, बोम्बे, 1997, पृ.सं. 17 से 21

3. के.एस. भावलकर – आटो बायोग्राफी (मराठी) पापुलर प्रकाशन, बोम्बे, 1997, पृ.सं. 90

4. ताराचन्द्र – भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास भाग72, पृ.501 व 239–240 तथा मजूमदार, आर.सी. पृ.सं. 258

5. ध्यानोदय पत्र (16 दिसम्बर, 1853) दी फादर ऑफ इण्डियन सोशल रिवोल्यूशन, बोम्बे, 1978, पृ.सं. 24

6. जे.आर. शिन्दे – फुलेज स्टेटेजी ऑफ सोसल रिवोल्यूशन बोम्बे, 1972 पृ.सं. 87

7. वाचस्पती गैरोल – भारतीय संस्कृति और कला, इलाहाबाद, 1963, पृ.सं. 63

8. एस.एस. अल्टेकर – पोजीशन ऑफ वीमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस, 1938, पृ.सं. 82

9. श्योराज सिंह – दलित क्रांति का साहित्य लखनऊ, 1982, पृं.सं. 51

10. दीन बन्धु पत्र का महात्मा फुले विशेपाक – फादर ऑफ सोशल रिवोल्यूशन–धनंजय कीर, बोम्बे, 1997, पृ.सं. 29

11. लोक कल्याणयेचु पत्र, बम्बई, 1873

12. शुभ वरीयमना पत्र 1873, पूणे, महाराष्ट्र

13. गुलामगिरी – ज्योतिबा फुले, संपादक विमल कीर्ति, राधा कृष्ण, दिल्ली, 1990, पृ.सं. 183

14. कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, दिल्ली, 2001, पृ.सं. 885

15. हरिदत्त वेदलंकार – हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, उत्तर प्रदेश, 1970, पृ.सं. 102

16. ग्रल ओमवेट – कलचरल रिवोल्ट इन ए. कोलोनियक्त सोसायटी नोन ब्राह्मण मूवमेट फ्राम, 1833 से 1930 इन वेर्स्टन इण्डिया, साइटिफिक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट, 1778

17. लता सिंहल – भारतीय संस्कृति में नारी : स्मृति ग्रंथों के विशेष संन्दर्भ में, दिल्ली, 1991, पृ.सं. 67

18. पी. सरीन – भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की रूपरेखा, जयपुर, 1982

19. राजकीय गजट, बोम्बे – 25 दिसम्बर, 1876

20. विविध ध्यान विस्तार पत्र, बम्बई, नवम्बर, 1873

21. एच.एन. माण्ड हैम्पटन – बायोग्राफिकल स्टडीज इन मार्डन इण्डियन ऐजुकेशन, नई दिल्ली, 1986, पृ.सं. 59

22. टी.एन. मण्डलिक – रॉयल ऐशयाटिक सोसायटी जनरल, बम्बई शाखा, 1885, पृ.सं. 36

23. नवशक्ति 24 सितम्बर, 1872, बम्बई

24. सत्यदीपिका समाचार पत्र, 24 सितम्बर, 1875 बम्बई

25. विविध ध्यान विस्तार पत्रिका, Vol. 11, N. 09, बम्बई

26. सुबोध पत्रिका 21 फरवरी, 1881, नागपुर

27. हरिनरके – महात्मा फुले साहित्य और विचार (अनुवाद) डॉ. भास्कर लक्ष्मण भोले महाराष्ट्र शासन, बोम्बे, 1993, पृ.सं. 10

28. प्रभात कुमार स्वामी – समाज सुधार में ज्योतिबा फुले का योगदान, जोधपुर, 2007, पृ.सं. 94

29. प्रमिला कपूर – दी चेजिंग स्टेट्स ऑफ वर्किंग वीमन, नई दिल्ली, पृ.सं. 85

30. पी.एन. चौपड़ा – सम आसपैक्ट्स ऑफ सोसायटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग दी मुगल ऐज, आगरा, 1955, पृ.सं. 94

31. पद्मजा शर्मा – महाराज मानसिंह ऑफ जोधपुर, आगरा, 1972

32. एन.बी. जोशी – पूना एनिशियेन्ट एण्ड मार्डन, 1977, पृ.सं. 76

33. फ्रैन्ड ऑफ इण्डिया – 10 जून, 1852

34. कानूनगो – स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, दिल्ली, 1960, पृ.सं. 77

35. एन.एल. डे – ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एनशिष्ट एण्ड मिडीवल इंडिया, दिल्ली, पृ.सं. 88

36. पी. थॉमस – इंडियन वूमन थ्रू द ऐजिस, न्यूयार्क, 1964, पृ.सं. 27

37. आर.सी. हाजरा – स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्ड ऑन हिन्दू रिट्स एण्ड कस्टम्स, कलकत्ता, 1975, पृ.सं. 92

38. रिपोर्ट ऑफ दी डारेक्टर ऑफ ऐजुकेशन, 1857–58, पृ.सं. 315–316

39. रोमेश थापर – ट्राइब्स, कास्ट एण्ड रिलिजन इन इंडिया, दिल्ली, 1977, पृ.सं. 96

40. राम पाण्डे – सोर्स ऑफ कल्चरल हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1983, पृ.सं. 32

41. राजकुमारी पृथी, रामेश्वरी देवी एण्ड रोमिला पृथ्वी, स्टेटस् एण्ड पोजीशन ऑफ वूमन इन, एनशियन्ट मिडीवल एण्ड मॉडर्न इंडिया, जयपुर, 2001, पृ.सं. 77

42. शांता रानी शर्मा – सोसायटी कल्चर इन राजस्थान, 700 से 900 ई., दिल्ली, 1996, पृ.सं. 92

43. गुलामगिरी – महात्मा ज्योतिबा फुले अनुवाद वेद कुमार वेदलंकार, महाराष्ट्र शासन, बोम्बे, 1994, पृ.सं. 21

44. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले, महाराष्ट्र शासन, मुम्बई, 1993, पृ.सं. 145

45. लक्ष्मण शास्त्री जोशी – नेशनल बायोग्राफी ऑफ ज्योतिबा फुले ट्रस्ट, दिल्ली, 1992, पृ.सं. 10, 11, 12

46. पूना अब्जर्वर – 12 जून, 1852

47. शेतक याचा आसूद – किसान का कोड़ा अनुवादक, वेदकुमार वेदलंकार, महाराष्ट्र शासन, बम्बई, 1996, पृ.सं. 1

48. हण्टर शिक्षा आयोग को दिया गया निवेदन 19 अक्टूबर, 1982, मुम्बई

49. अकाल पीड़ितो की सहायता हेतु पत्र, 17 मई, 1877, ज्ञान प्रकाश पत्र, 24 मई, 1877, दिल्ली, 1990, पृ.सं. 97

50. मराठी ग्रंथकार सभा को पत्र, 11 जून, 1885, ज्ञानोदय पत्र, 11 जून, 1885

51. अछूतों की कैफियत – महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली सम्पादक एल. जी. मेश्राम विमलकीर्ति, 1978, पृ.सं. 285

52. सी.एस. सरस्वती – आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तक, नई दिल्ली, 1992, 90–91

53. विश्व प्रकाश गुप्ता एण्ड मोहनी गुप्ता – स्वतंत्रता संग्राम और महिलाएं, दिल्ली, 1981, पृ.सं. 77

54. सतसार क्रमांक–1, महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली, सम्पादक एल.जी. मेश्राम विमलकीर्ति, 1988, पृ.सं. 95

55. नारायणराव माधवराव को पत्र– 2 जून, 1886, दिल्ली, पृ.सं.

56. महात्मा फुले का वसीयतनामा, 10 जुलाई, 1887, सम्पादक हरिनरके, महाराष्ट्र शासन, बम्बई, 1993, पृ.सं. 88

57. शंकुतला राव – द वूमन इन द वैदिक एज, बाम्बे, 1952, पृ.सं. 47

58. बांकीदास री ख्यात, पत्र 361, हवाला बही, 1854, बही, वि.सं. 1833, बीकानेर, पृ.सं. 311

59. एस.एस. गहलोत – राजस्थान हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल, जोधपुर, 1992, पृ.सं. 59

60. जी.एन. शर्मा – आधुनिक राजस्थान का इतिहास, 1984, जयपुर, पृ.सं. 262

61. एस.के. शर्मा एण्ड उषा शर्मा – हिस्ट्री एण्ड ज्योग्राफी ऑफ राजस्थान, नई दिल्ली, 200

62. प्रभात कुमार स्वामी – समाज सुधार में ज्योतिबा फुले का योगदान, जोधपुर, 2007, पृ.सं. 163

63. जी.एस.एल. देवड़ा – महाराजा गंगासिंह शताब्दी ग्रंथ, बीकानेर, 1980, पृ.सं. 76

64. तारा अली बेग – इंडियाज वूमन पावर, दिल्ली, 1976

65. जी. एच. ओझा – राजपूताने का इतिहास, अजमेर, 1937, पृ.सं. 654

66. दशरथ शर्मा – अर्ली चौहान डायनेस्टीज, दिल्ली, 1950

67. वी.के. वशिष्ट – राजपूताना एजेन्सी, 1990, पृ.सं. 248, 250

68. हरबिलास शारदा – महर्षि दयानन्द सरस्वती, अजमेर, 1920, पृ.सं. 164–165

69. दशरथ शर्मा – लैक्चर्स ऑफ राजपूत हिस्ट्री, दिल्ली, 1970, पृ.सं. 47

70. करणीसिंह – दी रिलेशन्स ऑफ दी हाउस ऑफ बीकानेर विथ दी सेन्ट्रल पावर्स, दिल्ली, 1974, पृ.सं. 98

71. पदम्जा शर्मा – महाराजा मानसिंह ऑफ जोधपुर, जोधपुर, 1974

72. वी.के. वशिष्ट राजपूताना एजेन्सी, उदयपुर, 1992, पृ.सं. 248

73. जी.एच. ओझा – बीकानेर राज्य का इतिहास–2, उदयपुर, पृ.सं. 424

74. यू.एन. घोषाल – स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1917, पृ.सं. 92

75. युसुफ हुसैन – मिडीवल इंडियन कल्चर, दिल्ली, 1918, पृ.सं. 47

76. आर.बी.सी. – हिस्ट्री ऑफ चाहमानस, दिल्ली, 1964, पृ.सं. 94

77. हरबिलास शारदा – स्वामी दयानन्द सरस्वती, जोधपुर, 1985, पृ.सं. 205

78. हरदान हर्ष – स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवन और विचार, जयपुर 1977, पृ.सं. 107

79. इन्द्रा – स्टेट्स ऑफ वीमन इन एनशिएन्ट इंडिया, बनारस, 1955, पृ.सं. 325

80. ए.जी. बनर्जी – राजपूत स्टडीज, कलकत्ता, 1944, पृ.सं. 77

81. दशरथ शर्मा – राजस्थान थ्रू दी एजेज, बीकानेर, 1966, पृ.सं. 86

अध्याय षष्ठम्

श्रमिकों और किसानों के हितार्थ तथा उनका आर्थिक पक्ष – समाज सुधार आन्दोलन का तृतीय सोपान

अध्याय षष्ठम

श्रमिकों और किसानों के हितार्थ तथा उनका आर्थिक पक्ष समाज सुधार आन्दोलन का तृतीय सोपान

किसान और कृषि की स्थिति

ज्योतिबा फुले भी एक ऐसे समाज सुधारक, विचारक थे, उन्होंने तत्कालीन सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए कृषि सुधार के उपाय सुझाये थे और किसानों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार कई कारण स्पष्ट किये थे। उन कारणों की संख्या तत्कालीन समाज में बहुत थी। उन्होंने कृषि और किसान की दुर्दशा के कारण जो उस समय बताये थे उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनमें से कुछ को छोड़कर शेष सभी कारण आज भी प्रासंगिक हैं।[1]

''किसी भी देश के मूल आधार स्तम्भ तीन होते हैं जिसमें प्रथम स्तम्भ उस देश का किसान वर्ग है। ज्योतिबा फुले इस किसान वर्ग के अन्तर्गत छोटे–मोटे काश्तकार और खेतों में काम करने वाले श्रमिक और उनके कृषि कार्य में सहयोगी कर्मकारों को मानते थे। दूसरा स्तम्भ सैनिक का है जो देश की सीमा और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होता है। तीसरा स्तम्भ प्रशासन और प्रशासनिक अधिकारी होते हैं। इन तीनों स्तम्भों की श्रेष्ठ स्थिति में ही देश की उन्नति और विकास सम्भव हैं।[2]

ज्योतिबा के समय में इन तीनों स्तम्भों में जो प्रथम स्तम्भ किसान वर्ग है उसकी स्थिति सबसे जर्जर थी। दूसरा स्तम्भ सैनिक वर्ग था जो किसानों

की अपेक्षा थोडी सन्तोषजनक स्थित में था और तीसरा स्तम्भ प्रशासन और प्रशासनिक अधिकारी वाला, सबसे अच्छी स्थिति में था। दूसरे और तीसरे वर्ग को विशेष सुविधायें और अधिकार प्राप्त थे। इन आधार स्तम्भों की असमानता ही सामाजिक विषमता का कारण थी।[3]

ज्योतिबा फुले ने इस विषमता की ओर संकेत करते हुए, सभी का ध्यान आकृष्ट करते हुए अपने ग्रंथ 'किसान का कोड़ा' में लिखा था कि ''किसान को अपने बीबी बच्चों के साथ रात और दिन खेत में जुतना, फिर भी लगान और लोकल फंड देने के बाद उनके परिवार के हर व्यक्ति को हर माह तीन–तीन रूपया भी नहीं बचता। लेकिन सामान्य यूरोपियन और यहां के सरकारी कर्मचारियों को हर माह 15 रूपया केवल सामान्य खर्च और शराब–पानी के लिए पर्याप्त हैं।[4]

महात्मा ज्योतिबा फुले किसानों की दुर्दशा का एक और मुख्य कारण मानते थे, विभिन्न तरीकों से किसान का शोषण। जमींदार और महाजन साहूकार किसानों पर बुरी तरह अत्याचार करते थे और बेचारे दरिद्र व अज्ञानी किसान उसे कसम खाकर सहन करते थे। जुल्म खिलाफ आवाज उठाने वाले लोगों को तरह–तरह की यातनाएं सहनी पड़ती थी। ज्योतिबा ने इस सम्बन्ध में अपने ग्रंथ इशारा में लिखा है, ''इन ब्राह्मण–बनिया आदि साहूकारों ने अपने इस अंग्रेज सरकार के दयालु शासन में भी उन गरीब शूद्रों में ब्याज, मूल रकम के साथ वसूल तो कर लिया, फिर भी उन गरीब शूद्र किसानों को समाप्त कर देने पर ही चैन की नींद लेते थे। एक साल बारिश न होन से स्वकीय (अपनी) राजसत्ता में किसानों को इतना कर्जदार बनना पड़ता था, तो

महात्मा फुले का पुणे का मकान (राष्ट्रीय स्मारक)

स्वकीय लोग उनकी और क्या दशा नहीं करते होगें, इस बात की आप सभी जानकर लोग ही कल्पना कर सकते हैं।[5]

सन् 1877–78 में महाराष्ट्र प्रान्त में सूखा पड़ने पर तो वहां के किसानों की हालत विकट हो गई। वहां पर किसानों के शोषण की चरम सीमा थी। पेट की आग बुझाने के लिए और सरकारी लगान चुकाने के लिए किसानों को अपने पशु आदि बेचन पड़े तथा भूमि के टुकड़े भी बंधक रूप में जमींदारों और महाजनों को सौंपने पड़े। ऐसी विकट परिस्थिति में सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की भी पौ–बारह हो गई, उन्होंने भी बहती गंगा में खूब हाथ धोए। जाली बंधक पत्र बनाकर किसानों की भूमि के टुकड़ों को हथिया लिया। किसान जब इसके विरूद्ध अदालतों में गए तब वकीलों द्वारा भी फीस आदि के रूप में उन्हें खूब लूटा–खसोटा गया। आज भी अगर देहाती क्षेत्रों की कृषि भूमियों के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकारी की जाँच की जाए तो उस समय के किसानों पर किये गये शोषण की नंगी तस्वीर मिल सकती है। महाराष्ट्र प्रान्त के किसी भी गाँव की कृषि भूमि के आलेखों का बारीकी से निरीक्षण किया जाए तो यह खुलासा हो जाएगा कि आज अच्छी भूमि का बड़ा भू–खण्ड़ वंश परम्परा से जिस–जिस उच्च वर्गीय व्यक्ति के पास है उसके दादा–परदादा अवश्य सरकारी कर्मचारी या अधिकारी थे, या जिनकी पीढ़ी का व्यवसाय महाजनी करना था।[6]

20 जून, 1878 को एक अधिकारी ने पूना के किसानों की जमीन का निरीक्षण किया तो उसने पाया कि एक किसान जो 10 रूपये का ऋण अपने गाँव के महाजन से लेता है तो इसे आगे चलकर 10 वर्ष पश्चात् उस ऋण के 10 रूपये, 110 रूपये के रूप में चुकाने पड़ते हैं, फिर भी उस महाजन के

खाते में उसके नाम 220 रूपये बाकी लिखे रहे। इस उदहारण से पता चलता है कि उस समय किसानों का कितना शोषण हुआ करता था।[7]

किसानों की यह दुर्दशा ज्योतिराव फुले से देखी नहीं जाती थी। पूणे जिले की जुन्नार तहसील के जमींदार और महाजन के अत्याचार के विरूद्ध जब वहां के पट्टेदार किसानों ने अपना संगठन बनाया तो फुले ने उन्हें भरपुर सहयोग दिया। उन्होंने किसानों को समझाया कि जब तक किसानों के विरूद्ध हो रहे अन्याय को रोका नहीं जाए तब तक कोई भी किसान खेतो को न जोते। किसानों ने जोतिराव की इस बात का समर्थन दिया और खेतों को जोतना बन्दकर दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि कृषि भूमि परती होने लगी। इससे जमींदारों और महाजनों की विभिन्न तरीकों से होने वाली आमदनी प्रभावित होने लगी। तब जमींदारों और महाजनों ने उस संगठन का नेतृत्व करने वाले ज्योतिराव के विरूद्ध शोर मचाया। कुछ जमींदारों ने तो कुछ काश्तकार किसानों को प्रलोभन देकर संगठन के विरूद्ध हो जाने के लिए भड़काया, परन्तु वे अपनी इस चाल में सफल नहीं हो सके अन्त में जमींदारों और काश्तकारों के मध्य के इस झगड़े को ज्योतिराव की मध्यस्थता में सुलझाया गया।[8]

बीसवीं शताब्दी में भी विजयसिंह पथिक के निर्देशन में राजस्थान प्रान्त में बिजौलिया के काश्तकारों ने ऐसा ही संगठन बनाकर जमींदारों के खिलाफ आन्दोलन किया था।[9]

किसानों के भूमि – स्वामित्व पर बल :

ज्योतिबा ने सदैव किसानों के हित की बात की। उन्होंने सदैव किसानों के भूमि, स्वामित्व पर बल दिया। उनका कथन था कि, ''जब तक हल चलाने वाले किसानों को खेतो का स्वामी नहीं बनाया जाता, तब तक भारत जैसे कृषि प्रधान देश की उन्नति नहीं होगी और न ही उपज बढ़ेगी।''

ज्योतिराव किसानों के सर्वांगीण विकास के पक्षधर थे। शहर में निवास करते हुए भी वे हमेशा किसानों की देखभाल करते रहते थे। उनकी इच्छा सदैव यही रहती थी कि किसान अपनी उपज के प्रति जागरूक रहकर रूचिपूर्वक कार्य करता रहे और उपज को बढ़ाता रहे। इसी उद्देश्य से ज्योतिबा ने कृषि सुधार विषय पर निबन्ध प्रतियोगिताएं आयोजित कीं। इन प्रतियोगिताओं में जो अच्छे निबंध होते थे तथा जो अच्छी उपज देने वाले किसान थे उन्हें पुरस्कार प्रदान किये जाते थे। वे समय–समय पर किसानों को अच्छी फसल उगाने के लिए सुधरे हुए हलों के प्रयोग तथा अच्छी किस्म के बीजों का प्रयोग करने के लिए सुझाव देते रहते थे। वे कृषि विकास के लिए पशुधन विकास पर भी जोर देते रहते थे। सरकार को भी उन्होंने पशु चिकित्सालय खोलने के लिये सुझाव दिये। उनका विचार था कि, ''किसान सुखी तो विश्व सुखी।''

ज्योतिबा के निकट सहयोगी भालेकर द्वारा राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में किसानों की वकालत :

सन् 1889 में सर विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पांचवाँ अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में मण्डपद्वार पर

ज्योतिराव के विचारों से प्रभावित व उनसे प्रेरणा प्राप्त उनके निकट सहयोगी समाज सुधारक श्री भालेकर ने किसान कि एक विशालकाय प्रतिभा खड़ी करवाई, जिसके तन पर सिर्फ फटी लंगोटी थी, कंधे पर फटा कंबल और सिर पर फटा मैला सा मुडासा था। हाथ में एक हँसिया और दूसरे हाथ में चिप्पड़ था, जिस पर लिखा गया था –

''यह राष्ट्रीय कांग्रेस देश की सामान्य जनता की न होकर मुट्ठी भर सफेदपोश और पूँजीपति व्यापारियों की है। इसमें देश के बीस करोड़ किसानों का एक भी प्रतिनिधि नहीं है। इसे तब तक राष्ट्रीय कांग्रेस नहीं कहा जा सकता जब तक इसमें किसानों के प्रतिनिधियों को लिया जाता।''[10]

कृषि और किसान की दुर्दशा के कारण :

ज्योतिराव भारत के पहले ऐसे समाज सुधारक थे जिन्होंने किसानों की दशाा सुधारने के उद्देश्य से कृषि सुधारों की पहल की थी। उन्होंने किसान की दरिद्रता व दुर्दशा के तीन मुख्य कारण बताये थे–

1. कृषि पर जनसंख्या का बढ़ता दबाव।
2. पण्डे–पुरोहित वर्ग, महाजन और शासक तथा उसकी नौकरशाही द्वारा किसानों का शोषण।
3. कृषि उत्पादन प्रणाली का पिछड़ापन और दुःस्थिति।[11]

किसान वर्ग भारतीय समाज का सदैव से एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। उसे परिश्रम से पैदा होने वाली वस्तुएँ ही समाज के मानवीय जीवन का मुख्य आधार हैं। सामाजिक व्यवहार भी पूर्णतया उन्हीं पर आधारित है। समाज का

इतना महत्वपूर्ण अंग होने के बावजूद भी किसान वर्ग के हिस्से में चिरन्तन दरिद्रता ही आई है। भारतीय समाज व्यवस्था में किसान को निम्नश्रेणी का दर्जा दिया गया है। ऊँचे वर्गों के लोग समाज की इस धुरी 'अन्नदाता किसान' को शूद्र समझते है। बात अपमान तक ही सीमित हो तब तो ठीक है, वे उसका आर्थिक शोषण भी करते है। उच्च वर्ग के लोग जानते है कि जब तक किसान को शोषित कर गरीब और लाचार बनाये रखा जायेगा तभी तक यह विषमता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था कायम रहेगी और किसान की मेहनत पर हम ऐसा करते रह सकेंगे।

भारत में अंग्रेजों के आगमन से पहले किसान वर्ग जितना दीन–हीन था, उतना ही दीन–हीन वह अंग्रेजी के आगमन के बाद भी रहा। हाँ, कुछ मात्रा में किसान वर्ग की अंग्रेजी शासन के दौरान प्रगति अवश्य हुई लेकिन वह प्रगति कोई विशेष नहीं थी। किसान और कृषि की दशा में जो मूलभूत परिवर्तन होने चाहिए वे नहीं हुए। इन परिवर्तनों में तीन बातें अपेक्षित थीं– ''पहली बात जमींदारी–प्रणाली समाप्त करना और उसके साथ ही सामन्ती वर्ग का विलय होना, दूसरी बात–किसान के श्रम का मुआवजा बड़ी मात्रा में उसके पास बचे रहना और तीसरी बात श्रम का यह मुआवजा अधिकाधिक मात्रा में बचे रहने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से खेती करना।''

उपर्युक्त तीनों ही बातें, जिन्हें ''किसान–क्रांति'' की संज्ञा दी जा सकती है, अंग्रेजी शासन के दौरान पूर्ण नहीं हुई। देशी रियासतें और नरेश ज्यों–के–त्यों बने रहे, जमींदारों को जमींदारियाँ पूर्ववत कायम रहीं, सामन्तशाही बरकरार रही। किसानों का खेती का तरीका भी वहीं पुराना घिसा–पिटा बना रहा और किसानों का शोषण करने वाली महाजनी प्रथा भी

पहले की ही भाँति बनी रही। इन परिस्थितियों में किसान की दशा में सुधार असम्भव था।

किसानों की ऋणग्रस्तता समाप्त करने के लिए तथा किसानों की खून–पसीने की कमाई को लगाने के रूप में वसूलने के तरीके तथा पेशवाओं द्वारा ब्राह्मणों को दक्षिणा देने की प्रथा को चालू रखने की मंजूरी देने की अंग्रेजी सरकार की नीति के विरूद्ध ज्योतिराव ने क्रोधित होते हुए कहा था कि, ''डरपोक अंग्रेज सरकार आज भी इस प्रथा को चालू रखकर मेहनती, शूद्रातिशूद्र किसानों की खून पसीने की कमाई लगान रूप में वसूलकर उसमें से प्रतिवर्ष हजारों रूपये खर्च करती है। सरकार नित नये कर किसानों पर लादकर उनका धन बड़ी चतुराई से बटोरने की नीति अपनाती हैं, जिससे किसान ऋणग्रस्त हो जाते हैं। उनकी इस ऋणग्रस्तता को समाप्त करना आवश्यक है।''[12]

ज्योतिराव ने अपने ग्रथ, 'किसान का कोड़ा' में किसानों को नई किस्म के बीजों व औजारों का प्रयोग करने और नई तकनीक से कृषि उत्पादन बढ़ाने, किसानों के पुत्रों को कृषि से संबंधित नया ज्ञान देने, उन्हें विदेश भेजकर वहां की विकसित कृषि दिखाने, कृषि प्रदर्शनियाँ आयोजित करने, उनमें सफलता प्राप्त करने वाले प्रतियोगियों को पुरस्कार देने आदि, जैसे सुझाव दिये है। उनका विज्ञाननिष्ठ और कृषिज्ञान का मेल करने वाला विचार वर्तमान में भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। ज्योतिबा फुले किसानों के पढ़ें–लिखें बच्चों को अपनी खेती को अच्छी तरह साफ–सफाई कर इनका रख–रखा एक नई तकनीक जिसमें पैदावार अधिक हो पर बल देना चाहते थे।

किसानों के सर्वांगीण विकास पर बल :

महात्मा फुले किसानों के सर्वांगीण विकास के जो उपाय सुझाए वे बहुत ही व्यापक और चहुंमुखी विकास के लिए कारगर हैं। उनका सदैव यह कहना था कि किसानों की भूमि का अपहरण, कृषि–उत्पादों तथा पशुओं का अपहरण, कृषि–उत्पादों का उचित मूल्य न दिये जाने से होने वाला शोषण, अदालती कार्यवाहियों के कारण होने वाली उनकी परेशानी आदि बातों का तुरन्त निवारण होना चाहिए। संक्षिप्त रूप में उनका मुख्य तात्पर्य यह था कि सर्वप्रथम किसान का शोषण बन्द होना चाहिए।[13]

उनके द्वारा दिया गया यह सुझाव किसान की जीवनधारा को सुधारने वाला था। आगे उन्होंने किसानों के स्वभावगत दोषों तथा रूढ़िवादी परम्पराओं के समाप्त करने संबंधी सुझाव प्रस्तुत करते हुए जो अन्य उपाय बताये उनमें बाल्यावस्था में किये जाने वाले विवाह, बहुविवाह, मद्यपान जैसी बुरी लतें, मौज–मजा में होने वाला व्यर्थ का खर्च, नाच–गाने का मोह, छोटी–छोटी बातों से होने वाले झगड़े और उनसे लिया जाने वाला लाभ आदि सभी बातों को रोकने की आवश्यकताओं पर बल दिया। इससे उनके मन की यह भावना स्पष्ट होती है कि, किसानों का जीवन सरल नीरोग और सदाचार से युक्त हो, नहीं तो उन्हे मिलने वाली सुविधाओं और धन का कोई लाभ नहीं होगा।

किसानों की दुर्दशा सुधारने के लिए ज्योतिराव द्वारा सुझायें गये अन्य उपाय :

कृषि विकास और सुरक्षा के लिए किसानों को फसल रक्षा हेतु बन्दूकें दी जाएं, कृषि के लिए तालाब व बांध आदि बनवाए जाएं, फसलों की सिंचाई के लिए जल–आपूर्ति के प्रबन्ध किये जाएं, पशुओं की चराई के लिए सरकारी

चारागाह उपलब्ध कराए जाए। बांधों और तालाबों की गाद को निकाला जाए, कृषि कार्यों में सैनिकों का सहयोग लिया जाए, कृषि विकास की नई योजनाएं बनाकर उनकी जानकारी किसानो तक उचित रूप व माध्यम से पहुंचाई जाए, कामचोर तथा भ्रष्ट अधिकारियों को दण्ड दिया जाये।[14]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि ज्योतिराव किसानों के बारे में बहुत ही प्रगतिशील दृष्टिकोण चाहते थे। वे चाहते थे कि सभी लोग किसानों के दरिद्र जीवन को ठीक से जान व समझ लें। उनके वास्तविक कष्टमय जीवन और अभावग्रस्त गृहस्थी को देखें, उनके प्रति सहानुभूति रखें और इस बात को भी न भूलें कि किसान समाज का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। उनका विचार था कि किसान की सुन्दर श्रेष्ठ स्थिति पर ही समाज संस्कृति और देश की सुस्थिति निर्भर है। वह भौतिक सुख–समृद्धि की रीढ़ है। इस लिए उसे केन्द्र में रखकर ही देश की सारी आयोजना की जानी चाहिए, उसे समाज में प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, उसे इंसान समझकर लोगों को व सरकार को उससे पेश आना चाहिए और उसकी बुनियादी आवश्यकताओं को वरीयता दी जानी चाहिए। उसकी कृषि पर सर्वाधिक खर्च किया जाना चाहिए और सभी लोगों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसके कष्टों पर ही अन्य लोगों का जीवन निर्भर है। उनका मानना है कि जब तक लोगों का दृष्टिकोण इस तरह से नहीं बदलता है तब तक किसान को सभी प्रकार के कष्टों व दुखों से छुटकारा नहीं मिल सकता और वह शोषण से युक्त नहीं हो सकता है।

महात्मा फुले के इस प्रकार के विचारों से प्रतीत होता है कि उनका कृषि सम्बन्धी वैचारिक दृष्टिकोण केवल किसान से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण मानव जाति के विकास व कल्याण का है। इसलिए किसी भी कृषि प्रधान देश

के लिए उस देश के किसान का विकास व कल्याण परम आवश्यक है। उनका दृष्टिकोण जितना तत्कालीन समाज के लिए महत्वपूर्ण था उतना आज के वर्तमान समाज के लिए भी महत्वपूर्ण है। देश के वर्तमान राजनेताओं को देश की स्थिति में सुधार लाने के महात्मा फुले के विचारों पर दृष्टिपात करना होगा और उन्हें कार्य–रूप में परिणत करना होगा, तभी देश की सुख–समृद्धि संभव है और इस लोकोक्ति को बल मिलेगा कि, 'किसान सुखी तो जग सुखी।'

श्रमिक और उनकी स्थिति पर ज्योतिराव का दृष्टिकोण :

भारतीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा श्रमिक वर्ग की श्रेणी में आता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक क्रांति का बीड़ा उठाने वाले समाजसुधारकों का ध्यान इस वर्ग की ओर न जाए, यह कैसे संभव हैं? इसीलिए समाज के इस वर्ग की और भी हमारे चरित्रनायक ज्योतिराव का ध्यान कृषि के साथ–साथ (श्रमिक वर्ग की स्थिति की ओर भी) समान रूप से था। श्रमिक वर्ग भी हमारे समाज का ही एक महत्वपूर्व अंग है जिस पर समाज और देश की उन्नति निर्भर करती है।

भारत जैसे देश में श्रमिकों की स्थिति शुरू से ही दयनीय रही हैं। यहां तक श्रमिक सदैव शोषण का शिकार रहा है। श्रमिकों को सदैव अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथक परिश्रम करने के बावजूद भी आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ा है। अपनी आर्थिक समस्याओं के कारण वे न तो अपने परिवार के सदस्यों को अच्छी शिक्षा दिला सकने में सक्षम रहे हैं और न ही सामाजिक प्रगति कर सके है। मजदूरों और श्रमिकों की इस वास्तविकता को ज्योतिराव ने सबसे पहले और बारीकी से महसूस किया। उन्होंने मजदूर और श्रमि वर्ग की श्रेणी में आने वाले भिन्न–भिन्न कार्यों को करने वाले

कारीगरों की सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए सरकार को उनकी शिक्षा आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार सलाह दी कि, ''अपनी दयालु सरकार को इस बलिस्थान में किसानों के स्कूलों के अलावा घिसाड़ी, लुहार, बढ़ई, बेलदार, बुनकर, चमार, सुनार, माली, नाई, धोबी, दर्जी आदि कारीगर जातियों के बच्चों के लिए तरह–तरह के स्कूल खोलने चाहिए उन स्कूलों में सभी के हुनर के लिए आवश्यक सभी प्रकार की शिक्षा देने के लिए साधारण खर्च की व्यवस्था करनी चाहिए। उन सभी स्कूलों में कर्मकुशल कारीगरों के बच्चों जैसे संस्कार प्राप्त करके निकलेंगे, उनमें शायद ही कोई चोर बने, इस बात को मैं बड़े यकीन के साथ कह सकता हूँ।[15]

श्रमिक कारीगरो के बच्चों के स्कूलों की स्थापना करने में आने वाले खर्च के सम्बन्ध में ज्योतिराव सरकार को सुझाव देते हुए आगे कहते हैं कि, ''किसानों से वसूल किये हुए टैक्स के रॉयल फण्ड से (सरकार को) कुछ रूपया खर्च करना चाहिए और कारीगर लोगों के बच्चों के लिए स्कूलों का निर्माण करना चाहिए, वे यूरोपीय और अमेरिका महाद्वीपों के कारीगरों की तरह साधारण मूल्य पर हल, हेंगा, बीज बोने का औजार, खुरपी हँसिया, फावड़ा आदि तरह–तरह के औजार लगातार आसानी से जब किसानों के लिये बनाएगे, तब किसान लोग अपनी सरकार को ज्यादा टैक्स देने के लिए आसानी से समर्थ होगें।[16]

आगे इसी सन्दर्भ में किसानों और श्रमिकों के बच्चों को स्कूलों में भेजने के सम्बन्ध में वे सरकार को सलाह देते है कि इस विषय में उसे कानून बनाना चाहिए ताकि किसान और श्रमिकों के बच्चे शिक्षित हो सकें। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ 'सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक' में लिखा है– ''सभी

अज्ञानी किसान और कारीगरों ने अपने अपने बच्चों को उनके (सरकारी) स्कूलों में यदि समझदारी से नहीं भेजा तो सरकार को ऐसे नासमझ लोगों के बच्चों के स्कूल में भेजने के बारे में बेशक जबरदस्ती करनी चाहिए और उस तरह कानून भी बनाना चाहिए। उसी तरह सरकारी अधिकारियों के द्वारा उन सभी लोगों में इस तरह की समझ बनानी चाहिए कि यदि आपने अपने बच्चों को उनके स्कूलों में नहीं भेजा तो वे बच्चे खाली रहने से निठल्ले बन जाएंगे और अपने पेट पालने के लिए वे फिर चोरी जैसे कामों में लग जाएंगे।''[17]

ज्योतिराव आगे इसी सन्दर्भ में किसानों और श्रमिक कारीगरों को उनके बच्चों के भविष्य के विषय में बताते हुए कहते है कि शिक्षा के अभाव में हुनरहीन तुम्हारे बच्चे ''खाली दिमाग शैतान का घर'' कहावत को परितार्थ करते हुए शैतानी प्रवृति को अपनाते हुए अपराधी बन जाएंगी। जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से तुम्हारे घर, परिवार, समाज और देश पर पड़ेगा। वे बच्चों के भविष्य का खाका खींचते हुए अपने ग्रंथ, 'सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक' में किसानों श्रमिकों को समझाते हुए इस प्रकार लिखते हैं कि– ''तुम्हारे बच्चे खाली रहने से पक्के चोर होने के बाद पास–पड़ौस के लोगों के घरों पर डाका डालेंगे और ऐसा करके यदि सरकार को चोट पहुंचाएंगे तो सरकार उनको काले पानी की सजा भी दे सकती है।''[18]

ज्योतिराव चाहते थे कि श्रमिक वर्ग की जातियाँ समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करें। सरकारी कामकाज में हिस्सेदारी बंटाए और अपना सामाजिक स्तर सुधारें तथा अपनी समस्याओं को सरकार के सम्मुख रखें एवं उनके हल निकलवाने का प्रयास करें। इस सम्बन्ध में उन्होंने सरकार से और सरकारी कर्मचारियों से श्रमिकों की सरकारी कामकाज में हिस्सेदारी न होने के बाबत

प्रश्न पूछते हुए कहा, ''अरे, तुम्हारे इन सभी म्यूनिसिपैलिटियों में ब्राह्मणों के राज में नीच समझे गए चमारों, बुनकरों, मातगों, लुहारों, सुनारों, महारो, बढइयों, धोबियों, धनगरों आदि लोगों में से एक भी आदमी इसका सदस्य है। अगर हो तो बताइये?''[19] उन्हें यह चेताया कि सरकार में भी श्रमिकों की भागीदारी होना आवश्यक है और सरकार को इस ओर भी विशेष रूप में ध्यान देना चाहिए।

महात्मा फुले द्वारा सामाजिक क्रांति को गति प्रदान करने के लिए सत्यशोधक समाज नामक जो संस्था स्थापित की गई थी, उस संस्था द्वारा समाज सुधार के लिए आन्दोलन चलाया गया। उस सत्यशोधक समाज के आन्दोलन में अनेक कर्तव्यनिष्ठ कार्यकर्ता आगे आये, उनमें श्री नारायण मेघाजी लोखंडे का ऊँचा स्थान है। लोखंडे को महात्मा ज्योतिराव की विचार प्रणाली में मानव जीवन का सच्चा हित दिखाई पड़ा। उनके सान्ध्यि में आकर उन्होंने यह जाना कि अपने जीवन को मानव हित में लगाना ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसी में अपना, अपने समाज का और देश का कल्याण निहित है। इसीलिए ज्योतिराव द्वारा जलाई गई समाज सेवा की ज्योति से आलोकित हो वे सत्यशोधक समाज के सदस्य बन गये और अपनी सरकारी नौकरी को छोड़ वे समाजसेवा के कार्य में जुट गये।

ज्योतिराव के एक अन्य सहयोगी श्रीकृष्ण राव पांडुरंग भालेकर ने अपने सम्पादन में एक साप्ताहिक पत्र, ''दीनबन्धु'' सन् 1877 में निकाला।[20] इस पत्र के प्रकाशन की प्रेरणा उन्हें ज्योतिराव से ही मिली थी। सन् 1880 में श्री लोखंडे इसी पत्र के सम्पादक बने।[21] इस पत्र के माध्यम से वे सामाजिक अत्याचारों, अन्यायों और मजदूरों की दुर्दशा का चित्र जनता के सामने रखने

लगे। इसका प्रभाव यह हुआ कि तत्कालीन सरकार सचेत हुई और सन् 1884 में सरकार द्वारा वस्त्र उद्योग की समस्याओं पर विचार करने के लिए एक आयोग का गठन किया गया। उस समय भी लोखंडे ने मुम्बई में मजदूरों का प्रथम सम्मेलन आयोजित किया और लगभग छह हजार मजदूरों के हस्ताक्षर वाला एक निवेदन सरकार को प्रस्तुत किया। उस निवेदन में मजदूरों की कई समस्याओं का वर्णन किया गया था और संबंधित अन्याय के निराकरण के लिए मांग की गई थी।[22]

सन् 1890 में श्री लोखंडे द्वारा मजदूरों का एक और विशाल सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन की विशेष बात यही थी कि एक बड़ी संख्या में महिला मजदूरों ने भी भाग लिया। इसी सम्मेलन के दौरान सरकार से रविवार की साप्ताहिक छुट्टी का फैसला करवा लिया गया। सम्मेलन में दो मजदूर महिलाओं ने महिला श्रमिकों के उत्पीड़न और कष्टों का ब्यौरेवार विवरण प्रस्तुत किया। आज से सौ साल पहले किसी भी सार्वजनिक सभा में महिलाओं की हिस्सेदारी व भाषण देना भारतीय इतिहास में सम्भवतः पहला ही उदाहरण था। यह सब महात्मा ज्योतिराव द्वारा महिलाओं में लाई गई जागृति का ही फल था।

भारतीय ओद्योगिक मजदूरों की स्थिति की जाँच करने हेतु और उसके बारे में सरकार को सिफारिशें करने हेतु सन् 1890 में ही एक बोर्ड का गठन किया गया। उस बोर्ड की सहायता करने हेतु श्री लोखंडे को नामांकित किया गया। तब उन्होंने मुम्बई के मिल मजदूर संघ के अध्यक्ष के नाते उक्त बोर्ड को मजदूरों का मांगपत्र प्रस्तुत किया। उस मांग पत्र द्वारा यह पता चलता है कि इस प्रथम मजदूर नेता को श्रमिकों और मजदूरों से व्यापक सहानुभूति थी और

उनके प्रति इसका यथार्थवादी दृष्टिकोण था। उसके बाद सन् 1891 में फैक्ट्री एक्ट बना जिसके अन्तर्गत मजदूरों के काम का समय निर्धारित हुआ और उनकी सुरक्षा के उपाय भी किये गये।

इस एक्ट के द्वारा श्रमिक मजदूरों को जो सुख–सुविधायें मिली, उसका श्रेय श्री लोखंडे और सत्यशोधक समाज के कार्यकर्ताओं को ही जाता है।

उपर्युक्त विवरण पूर्णतः स्पष्ट करता है कि मजदूरों की समस्याओं को गहराई से समझने और उनके प्रति सच्ची सहानुभूति रखने एवं उनके हितों की वकालत करने वाले व मजदूर (श्रमिक) आन्दोलन की नींव डालने वाले अगुवा नेता महात्मा ज्योतिराव फुले ही थे।[23]

जिस प्रकार से महाराष्ट्र में किसानों की स्थिति सुधारने में महात्मा ज्योतिराव फुले ने कार्य किया। इसका प्रभाव गुजरात और राजस्थान में भी पड़ा। इस समय राजस्थान में किसानों की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय थी। गुजरात में गांधी जी ने मजदूरों का पक्ष लेकर अहमदाबाद मिल आन्दोलन एवं खेड़ा आन्दोलन सफल बनाकर किसानों को अपने हक के प्रति जागरूक कर एक नवीन चेतना जागृत की। जिस प्रकार राजस्थान में सामाजिक बुराईयाँ व्याप्त थी उसी प्रकार सामन्तवाद प्रणाली के कारण प्रदेश का आम आदमी आर्थिक बोझ से दबा था। बन्धवा मजदूर प्रथा विभिन्न करों से निम्न किसान की स्थिति खराब थी। राजस्थान में विभिन्न सामाजिक संगठनों एवं पाश्चात्य शिक्षा एवं समाजसुधारों के सहयोग से धीरे–धीरे किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार शुरू हुआ। महात्मा ज्योतिराव फुले ने जो आर्थिक सुझाव दिये वे गुजरात एवं राजस्थान में भी इनका प्रभाव देखने को मिला।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. धनंजय कीर – महात्मा फुले फादर ऑफ इण्डियन सोशल रिवोल्यूशन, बम्बई, 1974, पृ.सं. 504
2. नवशक्ति 24 सितम्बर, 1872, पृ.सं. 6
3. शुभ वसियतनामा पत्र, 1873
4. विविध ध्यान विस्तार पत्र 8 सितम्बर, 1873
5. लक्ष्मण शास्त्री जोशी – नेशनल बायोग्राफी ज्योतिराव फुले, नई दिल्ली, 1992, पृ.सं. 77
6. देविका जैन – इण्डियन विमन, 1976
7. सुबोध पत्रिका, 21 फरवरी, 1881
8. शांता रानी शर्मा – सोसायटी एण्ड कल्चर इन राजस्थान 700 से 900 ई., दिल्ली, 1996, पृ.सं. 87
9. दशरथ शर्मा – लैक्चर्स ऑफ राजपूत हिस्ट्री, दिल्ली, 1970, पृ.सं. 106
10. डब्ल्यू इरविन – लेटर मुगल स. भाग 1–2, 1922 पृ.सं. 97
11. कर्नल जेम्स टॉड – एनल्स एंड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, आक्सफोर्ड, 1920, पृ.सं. 402
12. डी.के. खारडे – महात्मा ज्योतिराव फुले, दिल्ली, 1990, पृ. 88

13. डॉ. जी.एन. शर्मा – सोश्यल लाइफ इन मिडीवल राजस्थान, आगरा, 1978, पृ.सं. 20

14. महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 188

15. महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली भाग–2, पृ.सं. 188

16. जी.एच. ओझा – राजपूताने का इतिहास, अजमेर, 1937, पृ.सं. 40

17. महात्मा फुले यांचे राजकीय विचार (मराठी) कोल्हापुर, डॉ. सदानन्द थोरे अनुवाद मुरलीधर जगताप, बम्बई, 1993, पृ.सं. 344

18. गुलामगिरी पुस्तक (1873) – महात्मा ज्योतिराव फुले, बम्बई, पृ.सं. 55

19. एन.बी. जोशी – पूना एनिशियेन्ट एण्ड मार्डन, पूना, 1970, पृ.सं. 40

20. हरिजन – 29 अगस्त, 1936

21. स्वराज थ्रू चरखा – कानु गांधी द्वारा संकलित, 1945

22. स्वराज थ्रू चरखा – कानु गांधी द्वारा संकलित, 1945

23. एम. एल. शर्मा – हिस्ट्री ऑफ जयपुर स्टेट, 1962, पृ.सं. 95

अध्याय सप्तम

समाज सुधारकों के सामाजिक विचार

अध्याय सप्तम

समाज सुधारकों के सामाजिक विचार

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक देश में राजकीय क्रांति के जनक माने जाते है। उन्होंने कहा कि, ''स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है वह हम लेकर ही रहेंगे।'' ठीक उसी प्रकार महाराष्ट्र में महात्मा फुले सामाजिक क्रांति के अग्रदूत रहे हैं। गांधी जी उन्हें सच्चा महात्मा कहते थे। बाबा–साहब अम्बेडकर उनके सामाजिक दर्शन से न केवल प्रभावित ही थे बल्कि उन्हें भगवान बुद्ध एवं कबीर इन दो गुरूओं के साथ अपना तीसरा गुरू मानते थे।[1]

सन् 1827 में ज्योतिराव का जन्म पुणे में हुआ था उस समय सारा देश 'मनुस्मृति द्वारा विहित अवैज्ञानिक तथा सामाजिक नियमों की अन्ययापूर्ण श्रृंखला में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। वर्ण व्यवस्था की परिणति सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक विषमताओं का रूप ले चुकी थी। ब्राह्मणों को समाज में प्रतिष्ठा सत्ता और देवत्व प्राप्त हो चुके थे। श्रुति, पुराण और स्मृति इस सम्पूर्ण व्यवस्था के मूल स्त्रोत थे। इनके आधार पर ही ब्राह्मणों ने हिन्दू समाज की अन्य जातियों को मानसिक दृष्टि से गुलाम बना रखा था। कर्म काण्ड के पाखण्ड़ों, पाप परिमार्जन की अनेक विधियों तथा अन्ध विश्वास व श्रद्धा के विविध आयामों ने उनकी विचार शक्ति का अपहरण कर लिया था। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों ने सभी ब्राह्मणेतर जातियों के लोगों से उनकी सहज संघर्ष शक्ति भी छीन ली थी। इस सामाजिक दासता से निम्न वर्गीय दलितों की मुक्ति के लिये न्याय, तर्क एवं समानता के आधार पर महाराष्ट्र में सर्वप्रथम महात्मा फुले ने आवाज उठाई।[2]

किसी भी महान व्यक्ति का जीवन दर्शन अथवा सामाजिक दर्शन उस व्यक्ति की साहित्यिक कृतियों में अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। महात्मा फुले भी इस तथ्य के अपवाद नहीं है। उनका सामाजिक दर्शन और विचार उनकी निम्नलिखित कृतियों में प्रतिबिंबित है–

1. तृतीय रत्न (नाटक : 1855)[3]

यह नाटक यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन समाज व्यवस्था में पण्डे, पुरोहित धर्म के नाम पर झूठे प्रलोभन देकर भोले–भाले अशिक्षित शूद्रों को किस प्रकार लूटते थे और ईसाई पादरी निष्पक्ष धर्म के आधार पर उन अज्ञानी शूद्रों को सत्य ज्ञान देकर किस तरह से सही मार्ग पर लाते थे। इस नाटक की घटनायें तथा पात्र चंद गिने–चुने व्यक्ति हैं और इसकी कथावस्तु बहुत ही सरल है। पात्रों के अन्तर्गत एक कुनबी औरत, उसका पति, विदूषक, पुरोहित और उसका भाई, एक पादरी और एक मुसलमान हैं।

इस नाटक के अन्त में कुनबी व्यक्ति अपनी पत्नी से कहता है कि, ''चलो, आज तुम भी जल्दी से खाना खा लो। कुछ देर पहले परोपकारी पादरी साहब की बातों और आज की सारी घटनाओं से ईश्वर तथा धर्म के नाम पर हम जैसे अनपढ़ों और शूद्र जातियों के लोगों को भुलावे में डालकर ठगने वाले पुरोहितों का भंडाफोड़ हुआ हैं। अब हम पढ़ाई लिखाई का महत्व भी अच्छी तरह समझ गये हैं। इसलिए आज हम जल्दी खाना खाकर अपने मकान के उस तरफ श्री ज्योतिराव फुले के घर जायेंगे। वहाँ श्रीमती सावित्रीबाई फुले औरतों के लिए रात्रि–पाठशाला चलाती हैं। तुम उसमें शामिल हो जाओं और मैं ज्योतिराव की रात्रि पाठशाला में नाम लिखाऊँगा वे दोनों निःशुल्क पढ़ाते है। इससे पहले भी उन्होंने हमसे कई बार पाठशाला में आने का अनुरोध किया

है। लेकिन हमने वहां न जाकर बहुत बड़ी गलती की है। फिर अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। देर आयद दुरूस्त आयद।''[4] वे दोनों कुनबी पति–पत्नी ईसाई पादरी की तर्कपूर्ण बातों से बहुत ही प्रभावित होते हैं लेकिन वे ईसाई धर्म की ओर नहीं झुकते बल्कि फुले दम्पति की रात्रिकालीन प्रौढ़ पाठशालाओं में जाते हैं और लिखना–पढ़ना सीखने का प्रयास करते है। नाटक घटनाओं और पात्रों के कथोपकथन के द्वारा लेखक का दृष्टि कोण स्पष्ट झलकता है।

इस नाटक के शीर्षक 'तृतीय रत्न' के विषय में अनुमान किया जाता है कि ज्योतिराव ने 'रत्न' शब्द का प्रयोग तृतीय नेत्र, 'ज्ञान' के लिए किया होगा। इसके अतिरिक्त एक और प्रसिद्ध संस्कृति सूत्र वचन के अनुसार अन्न, पानी और शिक्षा को पृथ्वी के तीन रत्न बताया गया है। सम्भवतः इस संस्कृत सूत्र के आधार पर ही लेखक ने अपने इस नाटक का शीर्षक तृतीय रत्न रखा हो।

यह नाटक मराठी भाषा का सम्भवतः प्रथम स्वतंत्र सामाजिक नाटक है। इससे पहले एक ही नाटक प्रकाशित हुआ था। 'प्रबोधचन्द्रोदय' जो पारमार्थिक विषय को लेकर लिखा गया था और वह अनुवादित था। ऐसी स्थिति में अगर इस नाटक में शिल्प संबंधी कुछ दोष हो तो वे स्वाभाविक ही हैं। इस नाटक की कथा से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि लेखक का सामाजिक गतिविधियों का निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म और गहरा था। सामाजिक विद्रूपताओं पर इस नाटक के माध्यम से लेखक ने कुठाराघात किया है।

इस नाटक की प्रतिलिपि ज्योतिराव ने 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' को भेजी थी, लेकिन उस कमेटी में ज्योतिराव के विरोधी ब्राह्मण सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण मेजर कैंडी, रेवरंड मरे मिचेल जैसे ज्योतिराव समर्थक अंग्रेज सदस्यों के बावजूद भी पुरस्कार प्राप्त नहीं हो सका। इस संबंध में

लेखक ने अपने 'गुलामगिरी' नाटक में स्पष्ट लिखा है कि, ''ब्राह्मण सदस्यों के आगे अंग्रेज सदस्यों की एक नहीं चली, इसलिए कमेटी ने मेरा नाटक अस्वीकार किया।''[5] उनका विचार था कि, 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' गरीबों के दुःखों को नजर अन्दाज करने वाली पुणे नगरपालिका की छोटी बहिन है। ये दोनों संस्थाऐं शूद्रों के मार्गों को आलोकित करने और उनका कल्याण करने पर ध्यान नहीं देती।[6]

वास्तव में, दक्षिणा प्राइज कमेटी का निर्माण स्कूली पुस्तकों का अनुवाद करने के लिए हुआ था। शायद इसलिए ही सदस्यों ने सोचा हो कि यह नाटक हमारी कार्यपरीधि में नहीं आता है। फिर भी एक बात पूर्णतया स्पष्ट है कि उच्च वर्गों के सुधारक विचारात्मक रूप से भले ही प्रगतिशील हो परन्तु उनके पूर्व संस्कार इतने प्रबल थे कि वे एक सीमा तक ही अपने विचारों को कार्य रूप दे पाते थे। इस नाटक में लेखक ने जाति व्यवस्था के वर्चस्व तथा पुरोहिताई पर सीधी और कड़ी चोट की थी, शायद इसीलिए वह कमेटी के सदस्यों के लिए असहय थी।

इस नाटक 'तृतीय रत्न' के बाद ज्योतिराव ने अनेक साहित्यिक कृतियाँ रची लेकिन फिर कोई नाटक नहीं लिखा। इस नाटक के दक्षिणा प्राइज कमेटी के द्वारा अस्वीकार किये जाने के कारण उनके मन को बहुत आघात पहुंचा और उन्होंने अपने विचारों के प्रसारार्थ अगले 10,12, वर्षों तक पुस्तक–लेखन का कार्य नहीं किया। परन्तु वह हताश नहीं हुए बल्कि अपने विचारों को जीवन्त बनाने के लिए वे शिक्षा प्रसार और सामाजिक सुधार कार्यक्रम को बड़े ही जोश–खरोश से अमलीजामा पहनाते रहें।

2. पँवाडा छत्रपति राजा शिवाजी भोसला का (1869)[7]

छत्रपति राजा शिवाजी की जीवनी से प्रेरणा प्राप्त कर ज्योतिराव ने यह ग्रन्थ लिखा। इसका प्रकाशन सन् 1869 में हुआ। लेखक ने यह पंवाड़ा 'परमहंस सभा' के अध्यक्ष तथा कस्टम विभाग के भूतपूर्व सहायक आयुक्त और मुम्बई के जे.पी. (जस्टिम ऑफ पीस) स्वर्गीय रावबहादूर रामचन्द्र बालकृष्ण राणे को सादर समर्पित किया है।[8]

छत्रपति शिवाजी एक ऐसे महापुरूष थे जो स्वयं तो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आदि महापुरूष रहे और अपने जीवन चरित्र से अनेक देशभक्तों तथा क्रांतिकारियों को स्वतंत्रता की प्रेरणा दी। हिन्दी के मूर्धन्य कवि 'भूषण' ने शिवाजी के गौरवगान में 'शिवराज–भूषण' और 'शिवाबावनी' नामक दो काव्य ग्रन्थों की रचना की। क्रांतिवीर इतिहास पुरूष शिवाजी का जीवन चरित्र ही कुछ ऐसा था जो क्रांतिकारी विचारों वाले व्यक्ति को सहज ही प्रभावित करता था। शायद यही कारण है कि अपनी पीढ़ी में शिवाजी के महान् गौरवमय कार्य की ओर महाराष्ट्र का ध्यान आकर्षित करने वाले पहले महाराष्ट्रीय नेता और अंग्रेजों के शासन काल में महाराष्ट्र के पहले पंवाडा–रचयिता ज्योतिराव है। इस पंवाड़े में उन्होंने वीर रसपूर्ण वाणी में शिवाजी महाराज के धैर्य, गर्व और देशभक्ति तथा वीरता का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि वीर शिवाजी ने अपनी माँ की प्रेरणा और निष्ठावान, निर्भय, शूरवीर साथियों की सहायता से स्वराज का झण्डा गाड़ दिया।[9]

लेखक ने तीस पृष्ठों के इस पंवाड़े की भूमिका में इसकी रचना के संबंध में विवरण दिया है। उन्होंने लिखा है कि– ''इस पंवाडे को आठ अध्यायों में विभाजित किया गया है। इसे लिखते समय पुराने यवनों तथा मैसर्स ग्रांडफ

मैरी आदि अंग्रेजी की रचनाओं का आधार लिया गया है। मैं चाहता हूँ कि पंवाड़ा पद दलित शूद्रों तथा अतिशूद्रों के लिए उपयुक्त हो। जहां तक हो सके, मैंने लम्बे–चौड़े, बोझिल संस्कृत शब्दों से बचने की कोशिश की है। लेकिन जहां ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका, वहां मैंने छोटे–छोटे अर्थवाही शब्दों से काम लिया है। मैंने बहुत परिश्रम से आसान भाषा का प्रयोग किया है और धुनें भी ऐसी चुनी हैं कि सभी को पसन्द आ जायें।''[10]

ज्योतिराव ने छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवन से संबंधित घटनाओं का धारा प्रवाही भाषा में इस पंवाड़े में वर्णन किया है। पंवाडे की घटनायें शिवाजी के जीवन चरित्र पर आंर्धारित होने के बावजूद भी लेखक ने उनको सामाजिक दृष्टिकोण से चित्रित किया है। पंवाड़े के आरम्भ में ज्योतिराव ने शिवाजी को मेहनत मशक्कत करने वाले खेतिहर समाज के प्रतिनिधि के रूप में बताते हुए कहा है, ''मैं कुलवाड़ी भूषण छत्रपति शिवाजी भोंसला का पंवाड़ा गाता हूँ।'' और इस पंवाड़े के अन्तिम छन्द में उन्होनें कहा है कि, ''ज्योतिराव फुले ने गाया पूत शूद्र का, मुख्य धनी पेशवाओं का।'' इस प्रकार अन्त में उन्होंने शिवाजी को 'वीर शूद्र के पुत्र' और ब्राह्मण पेशवाओं के मुख्य धनी के रूप में बताया है।

ज्योतिराव ने यह दावा भी किया है कि शूद्रातिशूद्र ही यहां के मूल निवासी क्षेत्रपति थे। यहां की अनुसूचित जातियों महार, मागों ने इन आर्य ब्राह्मणों का मुकाबला किया जिसके कारण ब्राह्मणों ने इन्हें 'महाअरि' (महार) का सम्बोधन दिया और ये लोग महार कहलाये। आर्य ब्राह्मणों ने उन्हें अछूत बनाकर बर्बाद कर दिया और उन्हें दर–दर भटकने पर विवश कर दिया।

पंवाडे में ये सम्पूर्ण बातें राजमाता जीजाबाई बाल शिवाजी को बताती है। लेखक ने जानबूझकर इन बातों को पंवाडे में सम्मिलित किया है। आगे माता जीजाबाई पुत्र शिवाजी से कहती है कि मुसलमानों ने यहां के मंदिर तोड़े, पिंडियाँ फोड़ी, गुफाओं को हानि पहुंचायी, देहातों को लूटा। इस प्रकार जीजाबाई ने शिवाजी के मन में मुसलमानों के प्रति आक्रोश और नफरत उत्पन्न की। माता की इस प्रकार की बातों का शिवाजी पर यह असर हुआ कि उन्होने मुसलमानों के खिलाफ लड़ने की प्रतिज्ञा की। बाद में उन्होंने येशाजी कंक, बाजी पासलकर और तानाजी मालुसरे जैसे अनेक मित्रों को एकत्रित करके संगठन बनाया और एक–एक गढ़ फतेह करते गये।

छत्रपति शिवाजी के चरित्रगठन के संबंध में यह एक आम धारणा लोगों में थी कि उने गुरू श्री दादा जी कोडंदेव का बड़ा योगदान है। एक अन्य गुरू समर्थगुरू श्री रामदास का भी योगदान शिवाजी के चरित्रगठन में महत्वपूर्ण माना जाता है। परन्तु ज्योतिराव ने इस पंवाड़े में आम जन की इस धारणा को गलत ठहराया है और कहा है– ''राजनीति तो राजा शिवाजी को छुट्टी में मिली हुई थी और वीरता तथा कूटनीति के वातावरण में ही उनका लालन–पालन हुआ था। फिर उन्हें दूसरे से राजनीति के सबक सीखने की क्या जरूरत? क्या कोई मछली को पानी में खेलना सिखाता हैं?''[11]

समर्थगुरू रामदास के संबंध में ज्योतिराव ने स्पष्ट किया है कि वह तो छत्रपति शिवाजी के द्वारा जनप्रेम के उद्देश्य से गुरू बनाये गये थे। आगे इस पंवाडे में अफजलखां का वध, सय्यद बंधु, बीजापुर के आदिलशाह, सिद्दी जोहार, बाजी घोरपड़े, शाहिस्ताखाँ आदि का भी वर्णन लेखक ने किया है। इस पंवाडे का एक पद हिन्दी में लिखा हुआ है जिसमें औरंगजेब को बड़े भाई का

खूनी, छोटे भाई को कैद करने वाला और अपने पिता को बंदी बनाने वाला बताया गया है।

पंवाड़े में अन्य मुख्य घटनायें जिनमें शिवाजी के द्वारा सूरत शहर को लूटना, मुगल फौज को बंदी बनाना और बंदियों में जो सुन्दर स्त्रियों होती थी उनको समम्मान वापस भेजकर औरंगजेब को शर्मिन्दा करना आदि हैं। शिवाजी को औरंगजेब के द्वारा आगरे में नजरबंद करना और उसकी नजरबंदी से शिवाजी के गायब हो जाने की घटना भी पंवाडे में वर्णित है।[12]

ज्योतिराव के इस पंवाडे के तीन वर्ष पश्चात् उस समय के प्रख्यात पंडित जसवन्त परांजपे जो न्यायाधीश माधव गोविन्द रानाडे के मित्र और सहयोगी थे, उन्होंने शिवाजी पर एक महाकाव्य लिखने का संकल्प किया। ये महान विद्धान श्री म. मो. फुंटे परम्परावादी सुधारक की श्रेणी में आते थे। श्री कुंटे का 'राजा शिवाजी' नामक महाकाव्य अधुरा था और ज्योतिराव का 'शिवाजी का पंवाडा' ये दोनों ग्रन्थ 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' को पुरस्कार हेतु भेजे गये थे। अधूरे पूरे का अन्तर होते हुए भी यह पुरस्कार श्री फुंटे को प्रदान किया गया यह बहुत बड़ी नाइन्साफी थी।[13]

ज्योतिराव की काव्यरचना बड़ी सहज और सरल है। कहीं भी बनावटीपन अथवा खुरदुरापन परिलक्षित नहीं होता है, लेकिन उनका रूपवर्णन प्रतीकात्मक है। इस पंवाड़े की भूमिका में ज्योतिराव द्वारा जो विचार प्रस्तुत किये गये है वे आगे चलकर उनकी अन्य पुस्तकों में भी दिखालाई पड़ते है। इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक जीवन की ओर देखने का उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण था जो लगभग निर्धारित हो चुका था।[14]

3. ब्राह्मणों की चालाकी (ब्राह्मणचेकसब 1869)[15]

सन् 1869 में ही ज्योतिराव का एक और पद्य संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक 'ब्राह्मणों की चालाकी' था। जहां 'राजा शिवाजी का पंवाडा' उन्होंने एक निष्ठावान सक्रिय समाज सुधारक को अर्पित किया वहीं यह पद्य संग्रह उन्होंने कुनबी, माली, महार, मांग आदि शूद्रातिशूद्र जातियों को सस्नेह समर्पित किया।[16]

इस पद्य संग्रह की भूमिका में पदमनजी ने लिखा है कि ''श्री ज्योतिराव ने लोगों को ब्राह्मण शाही के जाल से मुक्त करने हेतु यह पुस्तक लिखी है और उनका दूसरा उद्देश्य यह भी है कि हमारी समदृष्टि अंग्रेज सरकार अपनी प्रजा में से इन अतिउपयोगी वर्गों को शिक्षा दें और उससे उनकी आंखों को खोलकर उन्हें पण्डे–पुरोहितों की दासता से मुक्त करें। यदि इन उद्देश्यों की पूर्ति हो जाये तो लेखक के श्रम सफल होगें।[17]

4. गुलामगिरी (1873)[18]

ज्योतिराव का यह चौथा ग्रंथ सन् 1873 में छपकर प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की भूमिका अंग्रेजी और मराठी दोनों भाषाओं में लिखी गई है। इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य 'पूना सिटी प्रेस, पुना' में किया गया था। वैसे तो इस ग्रन्थ का मूलय 12 आने था लेकिन शूद्रातिशूद्रों के लिए इसकी कीमत 6 आने रखी गई, ताकि वे इसे आसानी से खरीद कर पढ़ सके और इसमें व्यक्त विचारों से अवगत हो सकें।[19]

अब्राहम लिंकन अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति थे जिन्होंने अपने बचपन में एक अमरीकी गोरे व्यक्ति को एक हब्शी की चमड़ी उधेड़ते हुए देखा था।

इस घटना ने उनके बाल मन में इस कुकृत्य के खिलाफ विद्रोह के बीज बो दिये। उन्होंने उसी क्षण प्रतिज्ञा की– ''मैं इस प्रथा पर ऐसा कड़ा प्रहार करूंगा कि यह हमेशा के लिए समाप्त हो जाये।''[20] और उन्होंने सन् 1863 में हब्शियों की गुलामी प्रथा को समाप्त कर ही दम लिया। मानव–स्वतंत्रता के उस महान सक्षम व्यक्ति के कार्यों से प्रभावित होकर ज्योतिराव ने इस ग्रंथ की रचना कर उसे यूनाइटेड स्टेटस के उन सदाचारी लोगों को अर्पित किया जिन्होंने हब्शी गुलामों को गुलामी से मुक्त करने के कार्य में उदारता, निरपेक्षता और परोपकारिता दिखाई।[21] इसके साथ ही ज्योतिराव ने 'अर्पण पत्रिका' में यह आशा प्रकट की, कि उनके देशवासी इस कार्य का अनुकरण करके अपने शूद्र भाईयों को ब्राह्मणों की दासता से मुक्त करने में तन–मन का सहयोग करेंगे। इस ग्रन्थ का आरम्भ पाश्चात्य विद्वान होमर के इन विख्यात वचनों से किया गया हैं– ''जिस दिन मनुष्य गुलाम बनता है उस दिन उसके आधे सद्‌गुण नष्ट हो जाते है।''[22]

इस ग्रंथ की महत्वपूर्ण बात यह थी कि ज्योतिराव के भाव–विचार इतने सशक्त और प्रभावशाली थे कि एक समय उनकी हत्या करने आये धोंडिबा कुम्हार इस ग्रंथ की रचना में उनके सहयोगी बने। यह ग्रंथ प्रश्नोत्तर के रूप में है। इसके सोलह अध्यायों में से नौ में ब्राह्मणवाद के वर्चस्व का विवेचन किया गया है।[23]

इस ग्रंथ में ज्योतिराव ने मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम से संबंधित पौराणिक कथाओं की आलोचना की है। तत्कालीन समाज पर ब्राह्मणों के वर्चस्व को स्पष्ट करते हुए ज्योतिराव लिखते है कि ब्राह्मण केवल पंडे–पुरोहितों के रूप में ही निम्न वर्गों के लोगों को नहीं लूटता है

बल्कि सरकारी अधिकारी के रूप में भी वह लूट–खसोट करता है शिक्षित होने के कारण इन ब्राह्मणों ने अंग्रेज अधिकारियों के मातहत सभी ऊँचे पदों को हथिया लिया है।

अपने इस ग्रंथ के माध्यम से ज्योतिराव शूद्रातिशूद कनिष्ठ वर्गों को यह संदेश देते है कि जब तक अंग्रेजों का शासन है तब तक शिक्षा प्राप्त करें एवं स्वतंत्रता, समानता व बधुत्व की प्राप्ति के लिए अपने अज्ञान तथा पूर्व धारणाओं को दूर करें।[24] पुरोहितों की गुलामी की जंजीर को तोड़कर मानव अधिकारों की प्राप्ति के लिए तत्पर हो जायें।

इस ग्रंथ के विषय में अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए ज्योतिराव कहते हैं कि– ''इस ग्रंथ की रचना मेरे शूद्र भाइयों को केवल ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले छल–कपट की जानकारी देनें हेतु ही नहीं की गई है बल्कि इसके मूल में यह भी उद्देश्य है कि बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल सर जार्ज कैम्पबेल जैसे उदारमना और परम सहानुभूति रखने वाले राजनायिकों का ध्यान सिर्फ ऊँचे वर्गो को ही शिक्षा देने की खतरनाक नीति की ओर दिलाया जाये।[25]

5. किसान का कोड़ा (1883)

इस ग्रंथ की रचना ज्योतिराव ने सन् 1883 में की थी। लेकिन इसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के उपरान्त हुआ। इस ग्रंथ के माध्यम से उन्होंने इस देश के मध्यम और कनिष्ठ स्तर के किसानों की पशुवत जिन्दगी और उनकी अनन्त समस्याएं लिखी है एवं उन समस्याओं के हल सुझाये हैं।[26]

ग्रंथ की भूमिका में लेखक ने लिखा है कि, ''इस ग्रंथ को लिखने का उद्देश्य यह है कि शूद्र किसान के आज इस दिन अवस्था में पहुंचने के धार्मिक

और राज्य सम्बन्धी कई कारण है। उन तमाम कारणों में से कुछ कारणों का विश्लेषण करने के उद्देश्य से मैंने यह ग्रंथ लिखा है। शूद्र किसान धर्म की मदद से, सभी सरकारी विभागों में ब्राह्मण कर्मचारियों का वर्चस्व होने की वजह से, भट्ट भिक्षुकों द्वारा सताये जाते है। इस ग्रंथ के अध्ययन से उनको उस शोषण से अपना बचाव करने की क्षमता प्राप्त हो, यही मेरा उद्देश्य है, इसलिए इस ग्रंथ का नाम भी 'किसान का कोड़ा' (शेतक याचा आसूड) रखा गया है।''[27]

यह ग्रंथ लिखते समय ज्योतिराव पूणे, बम्बई, जून्नार, ओतूर आदि महाराष्ट्र के गांवों के सज्जनों को पढ़कर सुनाया करते थे और ग्रंथ में वर्णित संबंधित जानकारी सही होने की पुष्टि कराते थे। ज्योतिराव ने इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि महाराज्यपाल सर फ्रेडरिक हेमिल्टन को और दूसरी प्रति बड़ौदा के नरेश सयाजीराव गायकवाड़ को भिजवाई थी।[28]

इस ग्रंथ की विषयवस्तु पर प्रकाश डालते हुए ज्योतिराव ने इसकी भूमिका में आगे लिखा है– ''वर्तमान में किसान तीन प्रकार के हैं। एक वे कुलवाड़ी (खेतिहार) या कुनबी जो केवल खेती पर गुजारा करते हैं। दूसरे वे माली जो खेती के साथ–साथ फल, फूल आदि भी उगाते है और तीसरे वे गड़रिये जो उपर्युक्त दोनों व्यवसायों के साथ–साथ भेड़, बकरियों के रेवड़ भी पालते है। वर्तमान में इन तीनों जातियों में विवाह को छोड़कर अन्य सभी व्यवहार होते है। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनों जातियां मूलतः एक ही शूद्र जाति से उपजी होगी। आगे चलकर ये तीनों जातियाँ अपना मूल खेती का व्यवसाय छोड़कर मजबूरी के कारण आजीविका के लिए तरह–तरह के व्यवसाय करने लगीं। जिनके पास थोडी बहुत शक्ति है, वे अपनी खेती

सम्भाल रहे हैं। लेकिन अधिकांश लोग अनपढ़, ईश्वर भक्ति में विश्वास रखने वाले और भूखे–कंगाल है। जिनके पास आजीविका का कोई भी साधन नहीं बचा है, वे घास, लकड़ी या कपड़ा बेचने का व्यवसाय करने लगे हैं। कोई ठेके ले लेता है तो कोई बेचने का कार्य करता है। ये लोग काफी सम्पत्ति जमा करते है लेकिन इनके शौकिन रंगीले बेटे की शिक्षा में रूचि न होने से जल्दी कंगाल बन जाते है।''[29]

इस ग्रंथ के शीर्षक 'किसान का कोड़ा' में 'कोड़ा' शब्द का अर्थ चाबुक से है। किसान कोड़े का तभी प्रयोग करता है जब बैल ठीक से काम नहीं करता है। प्रथम तो वह कोड़ा उठाकर बैल को डराता धमकाता है, इतने पर भी जब बैल काम नहीं करता तो वह बैल की पीठ पर कोड़ा लगाता है। कोड़ा पड़ते ही अलसाया बैल चुस्ती–फुर्ती दिखाता हुआ ठीक से कार्य करना शुरू कर देता है। ज्योतिराव ने किसानों के अज्ञान का लाभ उठाकर उन्हें लूटने–खसोटने वाले तथा स्वयं चैन की नींद लेने वाले और चैन की बंशी बजाने वाले एवं मनगढन्त बेकार की कहानियाँ कहकर उन्हें ठगने वाले उच्च वर्गों तथा सरकारी कर्मचारियों को कोड़े लगाये हैं। साथ ही अंग्रेजों को सावधान किया है कि यदि वे किसानों का शोषण बंद नहीं करेंगे तो उन पर भी बरसाना पड़ेगा।[30]

इस ग्रंथ में चारों ओर से पीड़ित निरन्तर सताये जाने वाले महाराष्ट्र के गरीब शूद्र किसानों के तंगहाल और दयनीय जीवन का चित्रण ज्योतिराव ने किया है। उनके लेखन की शैली बड़ी पैनी, चुटीली व अनुभूतिपूर्ण है। इस ग्रंथ में मुख्यतः किसान व कृषि से संबंधित समस्याओं को उठाया गया है। इसलिए इसमें शूद्र समाज के राजा–महाराजाओं, देशी नरेशों, जागीरदारों,

इनामदारों एवं अत्यन्त दयनीय हालत में जीवन गुजारने वाले अछूते भाइयों का विशेष उल्लेख नहीं है। ज्योतिराव ने यह कहकर ''पहली श्रेणी के लोग अपने दुर्भाग्य के कारण शुद्र किसानो से कट गये है।[31] मध्यम तथा कनिष्ठ स्तर के किसानों की समस्याओं को लेकर विवेचना किया है। इसमें उन्होंने महाराष्ट्र के किसानों की दुर्दशा के कारणों, उसके लिए जिम्मेदार लोगों, स्वयं किसानों के दोषों आदि समस्याओं का सम्पूर्ण रूप से, न्याय–निष्ठुरता से विवेचना कर अन्त में सुधार के उपायों की चर्चा की है।[32]

इस ग्रंथ में ज्योतिराव किसान की स्थिति की क्रमबद्ध विवेचना करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण पुरोहित शूद्र को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तथा गर्भधारण से लेकर तीर्थ यात्रा तक के विभिन्न अवसरों पर धर्म के नाम पर कैसे लूटता–खसोटता रहता है, उसके द्वारा शूद्रों पर लादे गये धार्मिक संस्कार और विधियाँ कैसे निरन्तर चलती रहती है, यह चित्रण भी इस ग्रंथ मे किया गया है कि जो ब्राह्मण ऊँची शिक्षा प्राप्त नहीं करते, वे किस प्रकार सन्यासी का स्वांग रचकर समाज के अज्ञानी और अनपढ़ लोगों पर हुक्म चलाते हुए धर्म के नाम पर ठकोसले करता है और उन्हें लूटता है।[33]

6. सत्सार–अंक 1 और 2 (1885)

किसान का कोड़ा के तुरन्त बाद 'सत्सार का प्रकाशन हुआ। सत्सार के अंक 1 और 2 में ज्योतिराव द्वारा आरम्भ किये गये सामयिक पत्र हैं। मूलतः अलग–अलग इन दो अंकों का एक ग्रंथ बना है। इस ग्रंथ का मुख्य विषय शूद्रातिशूद्र वर्ग और नारी वर्ग है। 'सत्सार' अंक 1 की भूमिका में ज्योति राव ने विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, ''अंग्रजी राज्य के प्रभाव से अब अज्ञानी शूद्रातिशूद्र थोड़ा पढ़ने–लिखने लगें हैं इसलिए हजारों वर्षों से धूर्त

आर्य ब्राह्मणों द्वारा शूद्रातिशूदों को चारों ओर से कैसे ठगा जाता है, इसकी 'सतार' नामक छोटी सी पुस्तक में नित्य चर्चा करके जगद्वेषी आर्य ब्राह्मणों को प्रतीति कराने के उद्देश्य से यह पहला अंक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया गया है।[34]

इसी क्रम में इस अंक में ज्योतिराव ने आगे कहा है कि इसके आगामी अंकों के प्रकाशन का समय निर्धारित करके हम किसी वचन से बंधना नहीं चाहते, लेकिन यदि हमारे निष्पक्ष, विचारशील मंहमदी, ईसाई, और हिन्दू भाई हमारे इस छोटे से प्रयाास की उदारता से सहायता करें तो हम आगामी अंक हर सप्ताह में भी प्रस्तुत करेंगे।[35]

'सत्सार' के पहले अंक में ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज के विचारों तथा आचार में विशेषकर अछूतों से संबंधित आधार में पाया जाने वाला अन्तर, भिन्न जातियों के स्त्री–पुरूषों के संबंधों से जन्मी सन्तान का सामाजिक स्थान और आर्य ब्राह्मण भू–देवों की धर्म संबंधी धारणा से होने वाली हानि, इन तीन विषयों की तर्कपूर्ण ढंग से चर्चा की गई है। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज दोनों की ही बातें तो विश्व धर्म जैसी महान होती है, लेकिन उनके क्रियान्वयन से ये दोनों समाज मुकर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों समाजों की कथनी और करनी में अन्तर है। वे अछूत वर्ग के साथ बराबरी का बर्ताव नहीं करते हैं। उन्हें अपने धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में सम्मिलित नहीं करते हैं। यह स्पष्ट बताते हुए आगे ज्योतिराव ने इस ग्रंथ में लिखा है कि, ''अब हमें आपके ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज नहीं चाहिए। भिन्न–भिन्न जातियों के स्त्री–पुरूषों की सन्तानों को आर्य धर्म के नेता सहानुभूति से देखते

हैं और प्राचीन समय में उन्होंने व्यास और वशिष्ठ को अपने में समालिया लेकिन ऐसे संबंधों के बारे में शास्त्रकारों के मन में घृणा है।''[36]

7. चेतावनी (इशारा) 1885

मराठी भाषा में हिन्दी शब्द 'चेतावनी' के अर्थ में 'इशारा' का प्रयोग किया जाता है। इस ग्रंथ की भूमिका के अन्त में ज्योतिराव ग्रंथ लिखने का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखते है, ''भाइयों! ये मतलबी विद्वान ब्राह्मण अब पुनः अज्ञानी देव भोले शूद्र अतिशूद्र किसानों के उत्थान के रास्ते में ब्रह्महमला करना चाहते है। इसलिए उनका नग्न स्वरूप स्पष्ट करने के लिए, शूद्रातिशूद्र लोगों को उस खतरे से आगाह करने के लिए और ब्राह्मण पंडा–पुरोहितों की खतरनाक साजिश से बचने के लिए इस छोटी सी किताब को 'इशारा' नाम दिया है।''[37]

सन् 1885 में बड़ौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ पुणे आये थे और यहां उनका प्रवास लगभग दो माह रहा। इस अवधि में ज्योतिराव और उनके समर्थकों ने नरेश के स्वागत में एक बहुत बड़ा समारोह आयोजित किया। इस समारोह में श्री महादेव गोविन्द रानाडे (न्यायाधीश) और डॉ. भांडारकर को भी आमन्त्रित किया गया था। इस अवसर पर मराठा और महाराष्ट्र विषय पर भाषण देते हुए रानाडे ने कहा था– ''पहले जातिभेद थे। फिर भी उनसे देश की प्रगति में कोई बाधा नहीं आई। 30 वर्ष पहले किसानों की जो स्थिति थी, उसकी तुलना में आज उनकी स्थिति अच्छी है।''[38]

ज्योतिराव को रानाडे की यह बात कतई पसन्द नहीं आई। इसलिए उन्होंने भी रानाडे के इस बात का खण्डन करते हुए शीघ्र ही 'इशारा' का

प्रकाशन किया। उन्होंने रानाडे को चेतावनी दी कि इस प्रकार के गलत व्क्तव्यों से जनसाधारण उलझन में पड़ जाता है और इस प्रकार के बुद्धि भेद होने से देश का नुकसान होता है। इस बात के साथ ज्योतिराव ने यह भी स्पष्ट किया कि रानाडे का उपर्युक्त कथन किस प्रकार से निराधार और निरर्थक है।[39]

इस ग्रंथ में आगे वे लिखते हैं, ''आर्य ब्राह्मणों में से पहला दिवाभीत, सज्जन बनकर, पुणे निवासी होने पर भी मुम्बई निवासी बनकर विद्वान श्री सयाजीराव गायकवाड़ महाराज को खोखला सबक सिखा रहा है कि जातिभेद हमारे देश की उन्नति के आड़े नहीं आता।'' लेकिन हमें ऐसे शूद्रादि अतिशूद्वेषी बड़बड़िये उपदेशों के स्वार्थी खोखले पंडिताऊपन पर जरा भी आश्चर्य नहीं होता क्योंकि जाति भेद नष्ट होने पर आर्य ब्राह्मणों ने अतिशूद्रों पर अशिक्षा का जो ब्रह्म राक्षसी प्रतिबन्ध लगाया है, उसका धिक्कार कर जब वे सब विद्वान बनेंगे, तब आर्य ब्राह्मणों के सारे कुकर्म जानते ही उनके स्वार्थी ग्रंथों को हाथ भी नहीं लगायेंगे। वे ब्राह्मणों को 18 वर्णों में श्रेष्ठ नहीं मानेंगे और उनकी चलने देंगे। फिर कोई ब्राह्मण को मुफ्त में मिष्ठानों के अवसर नहीं देगा। न कोई मतलबी ब्राह्मण को मानेंगे और न ही कोई झूठ–सच को जोड़ने वाले ब्राह्मण को द्वार पर भी खड़ा होने देगा।''[40]

8. अछूतों की कैफियत (अस्पृश्याची कैफियत)

यह ग्रंथ सम्भवतः सन् 1885 में ज्योतिराव के द्वारा लिखा हुआ प्रतीत होता है। यह न तो उनके जीवन काल में प्रकाशित हुआ और न ही इसकी कोई पूर्ण हस्तलिखित प्रति मिलती है। इसकी एक अधूरी पांडुलिपि मिली है लेकिन विद्वानों का मत है कि उक्त ग्रंथ ज्योतिराव का लिखा हुआ नहीं है।

इस ग्रंथ के प्रारम्भ के भाग में आर्यों के आगमन के बाद उनके कार्यों का जो विवरण दिया गया है वह ज्योतिराव के अन्य लेखन की तुलना में विसंगत सा लगता है। एक पृष्ठ पर लाल स्याही में अत्यन्त अस्पष्ट अक्षरों में अंग्रेजी में 'अवैध' लिखा हुआ है, इससे लगता है कि यह ग्रंथ प्रक्षिप्त है।[41]

इस ग्रंथ की हकीकत के बारे में संदेहास्पद स्थित होने के कारण महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मण्डल द्वारा प्रकाशित 'महात्मा फुले समग्र वाङ्मय' शीर्षक पुस्तक के चौथे संस्करण में इसको 'परिशिष्ट' में स्थान दिया गया है।[42]

इस ग्रंथ के शीर्षक से ही प्रतीत होता है कि इसमें अछूत वर्ग की दुर्गति का विवरण है। लेकिन यह विवरण श्रृंखलाबद्ध तरीके से नहीं है। पहले चार परिच्छेदों का विषय एकदम असंबद्ध रूप में उपलब्ध है जिसे 'महात्मा फुले : समग्र वाङ्मय' के मराठी संस्करण के सम्पादक ने यथा सम्भव सुसंबद्ध करने का प्रयास किया है।[43]

9. सार्वजनिक अव्यधर्म (1891)

इस ग्रंथ का प्रकाशन सन् 1891 में हुआ। यह ज्योतिराव का अन्तिम ग्रंथ है। जीवन के अन्तिम समय से शरीर का दायां भाग लकवे से बेकार हो जाने के कारण इस ग्रंथ को उन्होंने बायें हाथ से लिखा है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' का भली प्रकार विवेचना करने वाला यह ग्रंथ महात्मा फुले की स्मृतिस्वरूप हैं या यूँ कहें कि जिस तरह से प्राचीन ग्रंथ 'मनुस्मृति' है ठीक उसी तरह मनुस्मृति` सिद्धान्तों को काटने वाला यह ग्रंथ 'फुले स्मृति' है।[44]

हरबिलास शारदा अभिनन्दन ग्रंथ –

हरबिलास शारदा का नाम सम्पूर्ण भारत व विदेशों लेखक, विधिवेता, इतिहासकार और समाज सुधारक के रूप में जाना व पहचाना जाता था। उसके द्वारा देश व समाज के प्रति की गई सेवाओं से सभी प्रभावित थे। उसके प्रशंसकों व मित्रों ने उसके इकहत्तरवें जन्म दिवस के समय उसे सम्मानित करने हेतु एक अभिनन्दन ग्रंथ तैयार करने का निर्णय लिया। महात्मा हंसराज, राजकुमारी अमृतकौर, रानी लक्ष्मीबाई राजवाड़े, के. एम. मुन्शी, गौरी शंकर औझा, के.पी. जायसवाल, राधाकुमुद मुखर्जी और प्राचार्य सिसादरी ने इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव रखा था।[45]

हरबिलास शारदा जीवन पर्यन्त अध्ययनशील रहे। उसका लेखन कार्य अन्तिम समय तक चलता रहा। अजमेर–मेरवाड़ा के उत्थान के लिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार को या उसके द्वारा नियुक्त आयोग व समितियों के समक्ष अनेक परिपत्र प्रस्तुत किये थे। शारदा के अभिन्न मित्र रामगोपाल ने कर्नल इंगरसोल के चुनिंदा लेखों को संकलित कर एक पुस्तक के रूप प्रकाशित करवाया था। शारदा ने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा था। उसने प्राक्कथन में कर्नल इंगरसोल के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला है। इंगरसोल अपने समय का एक महान वक्ता और विचारक था। वह योग्य, विद्वान, उदार और निष्ठावान व्यक्ति था। वह सत्य, समानता और स्वतंत्रता का पुजारी था। वह अमेरिका का निवासी था फिर भी वह भारत की स्वतंत्रता का पूर्ण पक्षपाती था। उसने अन्धविश्वास, अन्याय, निर्दयता और गुलामी का डट कर विरोध किया था। कर्नल इंगरसोल के लेखक भारतवासियों के लिए प्रेरणा के स्रोत बने।[46]

हरबिलास शारदा साहित्य मर्मज्ञ थे। उनकी ख्याति उसके जीवन काल में सर्वत्र फैल चुकी थी। उसने विद्वतापूर्ण अपने शोध पत्र लिखे थे जो ग्रेंट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की रोयल एशियाटिक सोसाइटी और इण्डियन एन्टिवेरि में प्रकाशित हुए थे। 1921 ई. में उसने आरिअन्टल कान्फ्रेंस के प्रथम अधिवेशन में अपना शोध पत्र पढ़ा था। वह ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की रोयल सोसाइटी ऑफ लिटरेचर और ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैण्ड की रोयल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य चुना गया था। उन्हें लन्दन की रोयल स्टैटिष्कल सोसाइटी का फेलो नियुक्त किया गया था। वह युनाइटेड स्टेटस अमेरिका की स्टैटिस्किल सोसाइटी का भी सदस्य रहा। उसे रोयल आर्केलोजिकल इन्स्टीटयूट ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड का ऐसोसिएट सदस्य बनाया गया था।[47]

सन्दर्भ ग्रंथ

1. महात्मा फुले साहित्य और विचार (सम्पादक–हरिनके) महात्मा फुले चरित्र साधने, मुम्बई, 1993, पृ.सं. 161
2. महात्मा फुले समग्र वाङ्मय (स. य. दि. फडके) महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मण्डल, मुम्बई, 1991, पृ.सं. 6
3. तृतीय रत्न (नाटक, 1855) महाराष्ट्र राज्य शिक्षण विभाग, मुम्बई, 1991, पृ.सं. 74
4. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 31–32
5. फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 220
6. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले, पृ.सं. 153
7. पवाड़ा : छत्रपति शिवाजी राजे भोंसले (यांचा काव्य, 1869)
8. पवाड़ा : छत्रपति शिवाजी राजे भोंसले (यांचा काव्य, 1869)
9. पवाड़ा : छत्रपति शिवाजी राजे भोंसले (यांचा काव्य, 1869)
10. फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 53
11. ''युगपुरूष महात्मा फुले, पृ.सं. 155
12. यू.एन. घोषाल – स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1917, पृ.सं. 44
13. शकुंतला राव – द वूमन इन द वैदिक एज, बोम्बे, 1952, पृ.सं. 556

14. सार्वजनिक सत्य धर्म पुस्तक मुम्बई, 1819, पृ.सं. 151

15. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 72

16. ब्राह्मणों की चालाकी (ब्राह्मणांचेकसब) मुम्बई, 1869, पृ.सं. 66

17. महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 95

18. फड़के, वही, पृ.सं. 87, ब्राह्मणांचे कसब की प्रस्तावना

19. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 92

20. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 93

21. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 93

22. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले, पृ.सं. 158

23. फड़के, स. दि. उपरोक्त, पृ.सं. 93–95

24. महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 103

25. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 94–95

26. महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 106

27. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 96–97

28. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 96–97

29. महात्मा फुले गौरव ग्रंथ : खण्ड प्रथम, मुम्बई, 1991, पृ.सं. 51

30. महात्मा ज्योतिराव फुले रचनावली भाग–1, पृ.सं. 117

31. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 106

32. फड़के, उपरोक्त, पृ.सं. 107

33. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले, पृ.सं. 162

34. फड़के वही, पृ.सं. 109–192 तथा वेदकुमार वेदलंकार द्वारा अनुवादित, गुलामगिरी, पृ.सं. 1–116

35. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले, पृ.सं. 162

36. ज्योतिराव गोविन्द राव फुले – 'गुलामगीरी' पृ.सं. 4

37. गुलामगीरी, पृ.सं. 7

38. नवशक्ति – 24 सितम्बर, 1872

39. विविध ध्यान विस्तार पत्रिका, Vol. 11, No. 9, आर. गुंजीकर, नवम्बर, 1873

40. दीनबन्धु पत्र का महात्मा फुले विशेषांक – 1933 फादर ऑफ सोशल रिवोल्यूशन – धनंजय कीर, बोम्बे, 1997, पृ.सं. 29

41. ध्यानोदय पत्र – 16 मई, 1863

42. वासुदेव शरण अग्रवाल – कला और संस्कृति, इलाहाबाद, 1952, पृ.सं.77

43. श्रीपाद जोशी – महाराष्ट्र के समाज सुधार, पुणे, 1969, पृ.सं. 401

44. ध्यानोदय पत्र – 16 मई, 1863

45. ध्यानोदय पत्र – 16 मई, 1863

46. नारायण सिंह भाटी – समाज रत्न हरबिलास शारदा, जोधपुर, 2001, पृ. सं. 106

47. भवानी लाल – भारतीय नवजागरण के पुरोधा, दयानन्द सरस्वती (वैदिक पुस्तकालय), अजमेर, 1983, पृ.सं. 97

अध्याय अष्ठम

उपसंहार

अष्ठम अध्याय

उपसंहार

आधुनिक भारत में नारी उत्थान के क्षेत्र में महात्मा ज्योतिराव फुले, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द विद्यासागर, हरविलास शारदा जैसे समाज सुधारकों ने नारी समस्या पर कार्य करते हुए महिलाओं के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार किया। शोध में तुलनात्मक रूप से दयानन्द सरस्वती एवं हरविलास शारदा के विचारों का अध्ययन किया गया है।

कार्य एवं विचार से ज्योतिबा एक महान व्यक्ति थे। ये चुम्बकीय व्यक्तित्व के धनी थे और उनकी भाषण तथा लेखन शैली व्यंग्यात्मक तथा अग्निवर्षी थी। उन्होंने 1848 से मनसा वाचा, कर्मणा तथा तन, मन, धन से सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक रूढिवाद के विरूद्ध विद्रोह का ध्वजारोहण किया। वे जीवन पर्यन्त नारी शिक्षा, शूद्रों तथा किसानों के मूल अधिकारों और सामाजिक समानता के लिए संघर्ष करते रहे। वे सामाजिक क्रांति के जीवन्त प्रतीक बन गये।

एक प्रतिबद्ध समाज में नारी उत्थान के रूप में ज्योतिबा फुले की ख्याति सम्पूर्ण महाराष्ट्र में फैल गई। बम्बई शासन ने उन्हें नगरपालिका पुणे का सदस्य मनोनीत किया। इस पद पर उन्होंने सन् 1876 से 1882 तक कार्य किया। अन्ततः बम्बई में मांडवी स्थित कोलीवाडा समाज के सभागार में समाज के सभी वर्गों ने उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करते हुए उन्हें 'महात्मा' की

उपाधि से विभूषित किया। वस्तुतः यह महात्मा ज्योतिबा फुले के संघर्षों एवं दलित वर्ग के प्रति समर्पित सेवाभाव का ही सार्वजनिक अभिनन्दन था।

महात्मा ज्योतिबा फुले अपने समय से बहुत आगे थे। इसका पता इसी बात से चलता है कि उनके सोचे व सुझाए कई कार्य आज भी प्रासंगिक है। वे उन्नीसवीं सदी के एक महान क्रांतिकारी पुरूष थे। उन्हें केवल समाज सुधारक कहना गलत होगा। वास्तव में वे सामाजिक क्रांति के जनक थे। उनका पूरा जीवन धर्मभेद, वर्णभेद, जातिभेद ओर लिंग भेद के विरूद्ध एक महान विद्रोह था।

महात्मा ज्योतिबा फुले स्त्रियों और शूद्रों के शोषितों, पीड़ितों के सर्वहारा जनजातियों के मसीहा थे। उनका जन्म (1827) में एक साधारण माली परिवार में हुआ था। महाराष्ट्र में पेशवाई का अन्त 1818 में हुआ, लेकिन उसके बाद भी समाज की बागडोर ब्राह्मणों के ही हाथों में थी। धर्म और संस्कृति की सत्ता भट्ट ब्राह्मणों के हाथों में थी। शूद्र, अतिशूद्र और भंगी निम्न और पिछड़ी जातियाँ अज्ञान, अंधविश्वास और गरीबी की दलदल में डूब चुकी थी। वे एक प्रकार की गुलामी की शिकार थी। स्त्रियों की वहीं स्थिति थी। इस प्रकार के वातावरण से ज्योतिबा का बचपन प्रभावित था।

इस सामाजिक गुलामी का कारण क्या था। इस प्रश्न ने ज्योतिबा को बचपन से ही बैचेन किया था। उसने उनके मस्तिष्क में एक प्रकार की उथल–पुथल मचा दी थी। पिछड़े तबके में जन्म लेने के कारण इस प्रश्न की चुभन उनके ह्रदय में बचपन से ही थी। इस सामाजिक गुलामी के अनेक कारण हो सकते है किन्तु उसका मूल कारण विद्या का अभाव ही था। अविद्या

ही कई सामाजिक रोगों का मुख्य कारण है। यह तथ्य ज्योतिबा के ध्यान में बचपन में ही आ गया था।

अविद्या हर प्रकार के अनर्थ को जन्म देती है। शिक्षा का अभाव ही अंधविश्वास, कुरीतियों, गरीबी, विषमता आदि समस्याओं की जड़ में होता है। इस देश में शूद्रों, अति शूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार क्यों नहीं दिया गया? ब्राह्मणों ने उन्हें वेदों को स्पर्श करने का और पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं दिया ? ब्राह्मणों ने उन्हें वेदों को स्पर्श करने का और पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं दिया ? इस निषेध का कारण क्या था ? उन्हें अधिकार दिया गया सिर्फ उच्च वर्णो के लोगों की सेवा करने का। सेवा का दूसरा अर्थ सिर्फ गुलामी होता है। ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ को धर्मशास्त्रों में सनातन सिद्धान्तों का रूप दिया। पाप और पुण्य की कई कथाएं उन्होंने पुराणों में लिखी, उन कथाओं में भट्ट, ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ बना दिया। उनको भूमण्डल का स्वामी बना दिया। वास्तव में, उसके पीछे एक बहुत बड़ा षड्यंत्र था, यह फुलेजी की धारणा थी। धर्मशास्त्रों के आधार पर ही पुरोहितों ने इस देश में इस तरह के संस्कृति उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया और यह उपनिवेशवाद कई शताब्दियों तक पनपता रहा। वर्णभेद या जाति भेद की नीति ही इस गुलामी की आधारशिला थी।

इतने सारे अनर्थों की समाप्त करने के लिए शिक्षा का कार्य आरम्भ करना आवश्यक था। 1848 में फुलेजी ने पूना में एक स्कूल की स्थापना की। 1852 में अछूत लड़कियों के लिए उन्होंने दूसरा स्कूल आरम्भ किया। महाराष्ट्र में ही नहीं, अपितु पूरे देश में यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास था। बम्बई प्रान्त में स्कॉटिश मिशन के कुछ स्कूल थे लेकिन किसी भारतीय व्यक्ति द्वारा किया

गया यह प्रथम प्रयास ही था। पूना के ब्राह्मणों ने फुले को धर्मद्रोही ठहराया । उनके दबाव के कारण ज्योतिबा को अपनी पत्नी के साथ घर छोड़कर जाना पड़ा।

महात्मा फुले सही अर्थों में एक युगपुरूष थे। क्रिश्चियन मिशनरियों के मानवतावादी कार्य से वे प्रभावित थे। टॉमस पेन के विचारों का बहुत गहरा प्रभाव उनके मन पर हुआ था। टॉमस पेन की 'राइट्स ऑफ मैन' पुस्तक सामान्य लोगों की बाईबल मानी जाती थी। फुले ने इस पुस्तक से प्रेरणा प्राप्त की थी। अपने अधिकारों का ज्ञान मनुष्य को शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है।

स्त्री शूद्रों को अपने अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही फुलेजी ने शिक्षा–प्रसार को महत्व दिया। वास्तव में इस कार्य में अपने आप सखाराम यशवत परांजपे, सदाशिव गोवंडे आदि मित्रों की मदद मिली। स्वयं फुलेजी ने स्कूल में पढ़ाने का पवित्र काम किया। उन्होंने अपनी पत्नी सावित्री को पढ़ाया और बाद में पढ़ाने का काम उनको सौंपा। सावित्री देवी प्रथम भारतीय शिक्षिका थी, यह भारतीय महिलाओं के लिए गौरव का विषय है।

शिक्षा के साथ–साथ महात्मा फुले का ध्यान दूसरी कई सामाजिक समस्याओं की ओर भी गया। महाराष्ट्र में कई स्थानों पर अकाल ने उग्र रूप धारण किया था। अकाल पीड़ित लोगों की मदद करने का काम उन्होंने किया।

किसान वर्ग साहूकारों के शोषण का शिकार था। साहूकारी करने वाले भी श्रेष्ठ जाति के लोग थे। धर्मव्यवस्था की बागडोर जिनके हाथों में थी, उनके ही हाथों में शिक्षा व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और अर्थ–व्यवस्था की भी सत्ता थी।

अंग्रेजों का भारत में आना शूद्र–अतिशूद्रों और स्त्री जाति के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उनके साथ भारत में नये दौर का भी आगमन हुआ। किन्तु यहां का बुद्धिजीवी वर्ग उच्च वर्गीय था। इस वर्ग पर निर्भर रहना अंग्रेजों के लिए आवश्यक था। राज्य अंग्रेजों का था लेकिन सत्ता ब्राह्मणों के हाथों में थी। यहां के शूद्र और अतिशूद्र शोषित थे। धार्मिक और सामाजिक दासता के नीचे वे दबे हुए थे। महात्मा फुलेजी का संघर्ष शोषण करने वाले प्रस्थापित वर्गों के विरूद्ध था। शोषित वर्गों के लोगों में एक नई चेतना लाना चाहते थे। विस्थापितों के वे सेनापति बने। उनके हाथों में वे शिक्षा के माध्यम के द्वारा मानवीय अधिकारों के शस्त्र देना चाहते थे।

महात्मा फुले जी अंग्रेजी शासकों को चेतावनी देते रहे कि वे निचले तबके के लोगों को शिक्षा की सुविधायें पर्याप्त मात्रा में प्रदान करें। हर गाँव में पाठशाला खोलें। महिलाओं का उत्पीड़न रोके। साहूकारों का अत्याचार समाप्त करें। खेती की उपज बढ़ाने के लिए आधुनिक ज्ञान और साधन मुहैय्या करावें। सरकारी सेवाओं में बहुजनों और जनजातियों को उनकी संख्या के अनुपात में हिस्सा दें। फुले जी ने कई बार अंग्रेजी हुकुमत की सराहना की है और कड़ी आलोचना भी की है। महात्मा फुले के नाम और काम से उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई का नाम और काम हमेशा के लिए जुड़ा हुआ है। दोनों की भाग्य रेखा और कर्म रेखा एक ही थी। ज्योतिबा और सावित्री के कर्म को ज्ञान की आँख और ज्ञान को कर्म के हाथ दिये। सावित्री बाई ज्योतिबा के जीवन की मानो ज्योति थी। ये दोनों जीवनभर गरीब और पीड़ित लोगों के जीवन में आनन्द का प्रकाश लाने के लिए जलते रहे। इन्होंने अपने घर में बाल हत्या प्रतिबंधक गृह भी शुरू किया (1863)। कोई भी विधवा वहां आ कर

बच्चे को जन्म दे सकती थी। उस विधवा का नाम गुप्त रखा जाता था। बालहत्या करने से कई विधवाओं को उन्होंने रोका।

ऐसी ही एक ब्राह्मण विधवा के पुत्र को उन्होने गोद लिया। उन्होंने उसका नाम 'यशवंत' रखा। ज्योतिबा और सावित्री की अपनी संतान नही थी। यशवंत को ही उन्होंने अपना पुत्र माना उसका पालन–पोषण किया। उसे पढ़ाया और डॉक्टर बनाया। इतना ही नहीं वसीयत बनाकर उन्होंने यशवंत को अपनी जायदाद दी। फुले जी ने पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया। ब्राह्मण विधवाओं के केश–वपन अर्थात केश मुण्डन के खिलाफ उन्होंने आवाज उठाई, अछूतो के लिए अपने घर के पानी का कुंआ सार्वजनिक कर दिया। 1873 में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की। पिछड़ी जातियों का संगठन करने के लिए उसकी आवश्यकता थी। महाराष्ट्र में सामाजिक जीवन पर 'सत्यशोधक समाज' के कार्य का गहरा असर हुआ। इस संगठन में पुरोहितों का विरोध किया। किसानों के मन में विद्रोह की भावना पैदा की।

महात्मा फुले परम्पराभंजक थे। कर्मकाण्ड पर उन्होंने आघात किये। वे बुद्धिवादी थे। धर्म ग्रंथों का निर्माण ईश्वर ने किया है, इस बात पर उनका विश्वास नहीं था। स्वर्ग और नरक की कल्पना उन्हें मंजूर नहीं थी। जन्मतः कोई श्रेष्ठ होता है और कोई नीच, इस विचार का उन्होंने खण्डन किया। ईश्वर को उन्होंने निर्भीक कहा। सारे मानव समान हैं, इस सिद्धान्त पर वे अटल रहे। इष्टवादी जीवन मार्ग पर चलने से ही हमारी प्रगति हो सकती है, इस बात पर बल देते रहे।

फुले जी 'भेद' के खिलाफ थे। भेद नीति ही विषमता और अन्याय को जन्म देती है। विषमता और पीड़ित लोगों की जब परिसीमा होती है, तब

गुलामी जन्म लेती है, गरीब और पीड़ित लोगों की पीठ पर ही गुलामी सवार होती है। सामाजिक गुलामी का अधिकतम प्रभाव महिलाओं पर होता है। इस देश में ब्राह्मणों ने शूद्र पर धार्मिक, सामाजिक, गुलामगिरी का निकृष्ट रूप है। गुलामी की विचारधारा ऊँच–नीच की नींव पर खड़ी है। उस नींव को उखाड़ने का प्रयास फुले जी ने किया।

पं. जवाहर लाल नेहरू ने 'भारत की खोज' में उचित ही लिखा है कि, ''भारतीय लोकतंत्र में किसानों और मजदूरों की जैसे–जैसे उन्नति होगी वैसे–वैसे ही इतिहास में महात्मा फुले का व्यक्तित्व अधिकाधिक उभर कर सामने आयेगा।'' महात्मा फुले कहा करते थे कि सत्य की सदा जय होती है। सत्य के द्वार पर स्वर्ग सदैव उपस्थित रहता है और भक्ति उसके सामने नतमस्तक रहती है। सत्य का अनुगामी स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी होता है। महात्मा फुले को सत्य में अटूट विश्वास था। जब महात्मा गांधी केवल 4 वर्ष के ही थे तब ही फुले जनता को सत्य का ही संदेश दे रहे थे। इसी कारण महात्मा गांधी ने फुले को सच्चा महात्मा कहा था।

उनकी सत्यता, समानता और मानवता का संदेश उन्हें भारत के महान विचारकों और सन्तों में एक प्रमुख स्थान पर सुशोभित कर रहा है लेकिन महात्मा फुले का उद्देश्य तो तब पूर्ण होगा जब हमारा देश सामाजिक व आर्थिक समानता प्राप्त करेगा तथा प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के अधिकारों की रक्षा करेगा।

''कल्चरल रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसायटी – वोन् ब्राह्मण मूवमेंट फ्रोम 1873 टू 1930'' की लेखिका डॉ. गेल ओमवेट अमेरिका स्कॉलर ने अपनी उक्त पुस्तक में लिखा है कि ''गैर आर्य वंशीय बहुजन समाज की

सांस्कृतिक एकता एवं निम्न जातीय समाज की धारणा, फुले के विचारों की अर्न्तनिहित विषय वस्तु (थीम) है।''

''महात्मा ज्योतिबा फुले–दी फादर ऑफ इण्डियन सोशल रिवोल्यूशन'' के लेखक ख्याति प्राप्त जीवनीकार धनंजय कीर ने अपनी उक्त कृति में लिखा है कि ''महात्मा ज्योतिबा फुले भारतीय समाज व्यवस्था की सामाजिक समता, न्याय एवं औचित्य और युक्ति–युक्ता पर आधारित पुनर्रचना करना चाहते थे। यही उनका लक्ष्य था, जिसमें उन्हें काफी हद तक सफलता मिली।''

महात्मा ज्योतिबा फुले ''ग्रामीण कुनबी किसानों, खेतिहर मजदूरों, शूद्रादि–अतिशूद्रों एवं नारी वर्ग सहित बहुजन समाज के दार्शनिक थे। उन्होंने वर्ण व्यवस्था तथा जाति भेद के निर्माता ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति के विरूद्ध 19वीं शताब्दी में एक शक्तिशाली आन्दोलन खड़ा किया।

उन्होंने दलितों और महिलाओं के लिए शिक्षा के सदियों से बंद दरवाजे खुलवाये। उन्होंने शूद्रादि–अतिशूद्रों, मजदूर किसानों तथा समाज के कमजोर वर्गों के लोगों को, ब्राह्मण समाज व्यवस्था द्वारा थोपी गई मानसिक तथा सामाजिक दासता से मुक्त कराकर उनके मानवाधिकार बहाल कराये, जिससे उन्हें सदियों से वंचित कर दिया गया और उन्हें सम्मान एवं गरिमापूर्ण जीवन जीना सिखाया। उनके इन कार्यों को 20वीं शताब्दी में डॉ. भीम राम अम्बेडकर के द्वारा राजनीतिक जामा पहनाया गया। महात्मा ज्योतिबा फुले की गणना गौतम बुद्ध, संत कबीर, संत तुकाराम की परम्परा में की जाती है। उनका साहित्य, स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा, एवं मानवीय गरिमा की चेतना जगाने वाला है।''

जिस तरह महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले ने सामाजिक सुधार के कार्य किए, उसी प्रकार गुजरात में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तत्कालीन समाज में फैली बुराईयों को दूर करने के प्रयत्न किये और शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न स्थानों पर जैसे हरिद्वार, लाहौर, अजमेर में वैदिक स्कूल और महाविद्यालय खोले। दयानन्द सरस्वती ने महिला शिक्षा में गहरी रूचि दिखाई थी और समाज में व्याप्त ऊँच–नीच समाप्त करने के लिए 10 अप्रैल 1875 ई. में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज के माध्यम से स्वामी जी ने सम्पूर्ण भारत शिक्षा की अलख जगाई। स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद उत्तर भारत में एक और समाज सुधारक हुये जिन्होंने तत्कालीन समाज में फैले अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया। राजस्थान के अजमेर में 1867 ई. में जन्मे हर विलास शारदा जिन्होंने बाल–विवाह जैसी प्रचलित सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध लड़ाई लड़ी। उन्हीं के प्रयासों से 1929 ई. में बाल विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया और विवाह की आयु लड़के के लिए 18 वर्ष और लड़की के लिए 14 वर्ष निश्चित की गई। इस कानून को शारदा एक्ट नाम दिया गया। शिक्षा के क्षेत्र में शारदा ने स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित पाठशालाओं को आगे बढ़ाया। महाराष्ट्र में ज्योतिराव फुले, उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती और हरविलास शारदा द्वारा किये गये सामाजिक सुधार आज भी समाज में प्रांसगिक हैं।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

महात्मा फुले की मोड़ी, मराठी और अंग्रेज़ी लिखावट

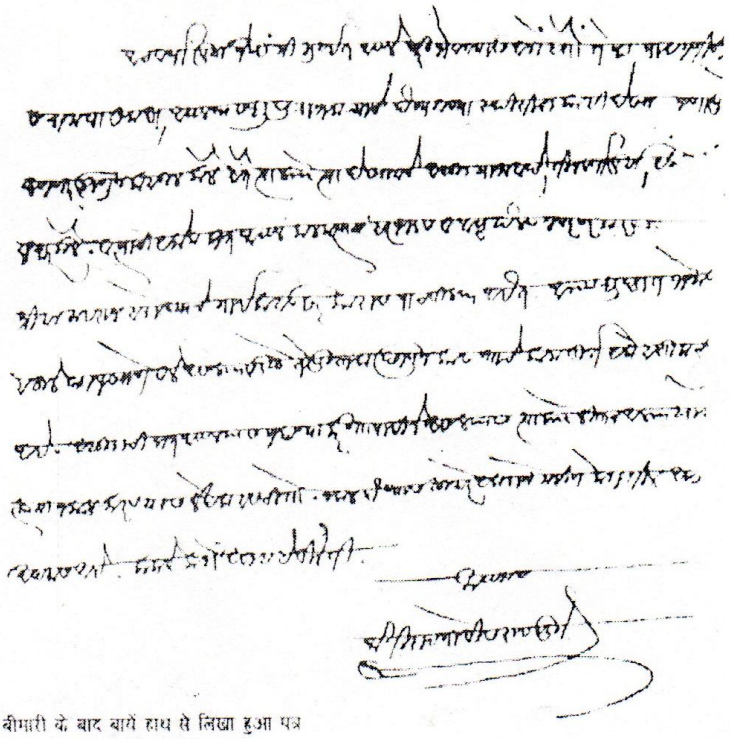

लकवे की बीमारी के बाद बायें हाथ से लिखा हुआ पत्र

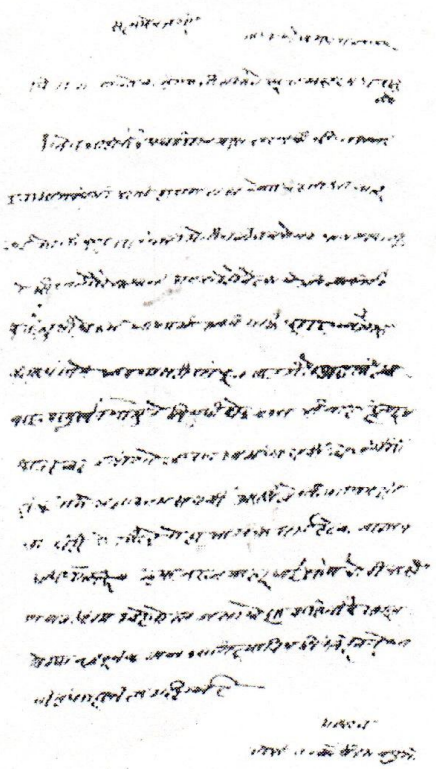

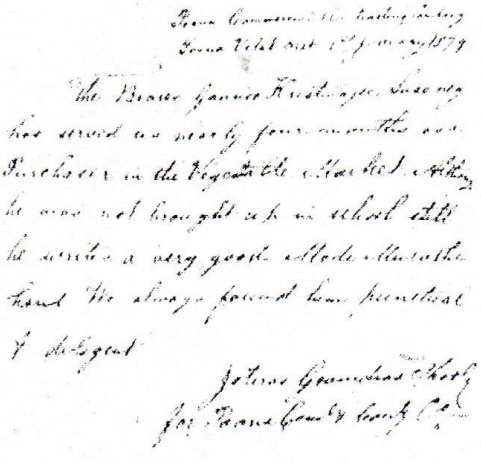

शाब्दिक भावार्थ

मुत्सद्दी	–	राज्य के उच्च मंत्री
पोशाल	–	शिक्षा के स्थल
नेसाल	–	शिक्षा के स्थल
पासवान	–	विश्वसनीय उप–पत्नी को दिए जाने वाला पद
पटरानी	–	मुख्य पत्नी (रानी)
आखेट	–	शिकार
चौसर	–	एक प्रकार का खेल
चौगुला	–	सहायक या चौधरी
गो–हे	–	उप–गौत्र
स्कॉटिश मिशन	–	विदेशी शिक्षा केन्द्र
फिकरेबाजी	–	मजाक उड़ाना/ ताने मारना
पेशवा	–	मराठा प्रमुख
कुलकर्णी	–	गाँव का मुख्या (पटवारी) ग्राम लिपिक, लेखपाल
अगीन	–	राजस्व निर्धारित करने वाला अधिकारी
कारकुन	–	साधारण शासकीय कर्मचारी या क्लर्क
कुदटगी	–	किसानों को पट्टे पर दी जाने वाली भूमि

कुटुम्बी – भू–स्वामी

काम विसदार – पेशवाओं के अधीन छोटे प्रान्त का सूबेदार

खालसा – शाही भूमि

ग्राम भट्ट – गाँव के सेवक

चौथ – मराठों द्वारा पड़ौसी राज्यों से वसूले गए कुल उत्पादन का 1/4 भाग

चिटनिस – पत्र व्यवहार करने वाला लिपिक

देशमुख – राजस्व वसूल करने वाले मराठा प्रशासन के अधिकारी

सरदेशमुखी – राज्य की आय का 1/10 भाग जो मराठे पड़ौसी राज्यों से वसूलते थे।

पेठ – ग्राम समूह

पोटनिस – खजान्ची

फडनिस – उपलेखा परीक्षक

वितिकची – लेखापाल

बरगीर – मराठा सैनिक जिन्हें राज्य द्वारा घोड़े व हथियार प्रदान किये जाते थे।

मसलतदार – पेशवा के अधीन बड़े प्रान्तों के सूबेदार

मजूमदार – लेखा अधिकारी

रूक्का	–	मराठा तांबे की मुद्रा, जिसका भार 1/4 तोला होता था, 40 सक्का – 1 टंका
डावड़िया	–	बांदी, दासिया
पातुरिया	–	नर्तकीयाँ
रनिवास	–	रानियों के रहने का स्थान
ख्याल	–	एक प्रकार का स्थानीय नाटक
बैवार	–	व्यवहार
पल्ले लगाना	–	पुनर्विवाह का प्रकार
चंवरी	–	विवाह मंडप
गुहार	–	अपील
मूर्छा	–	अचेतन अवस्था
माहेरा	–	भात

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

अ. प्राथमिक स्रोतः

(क) अभिलेख सम्बन्धी सामग्री

(A) पूणे–महाराष्ट्र

1. सत्यशोधक समाज, पूना की रपट 20 मार्च, 1871 सितम्बर, 1873 से 1875 तक, 24 सितम्बर से 24 सितम्बर 1876 तक।

2. सत्यशोधक समाज के तीसरे वार्षिक सभारम्भ की रपट 24 सितम्बर, 1876

(B) दिल्ली – राष्ट्रीय संग्रहालय

1. हण्टर आयोग को दिया गया निवेदन 18 अक्टूबर, 1882

2. मराठी ग्रंथकार सभा को पत्र 11 जून, 1855

(ख) ऐतिहासिक साहित्य

(A) मराठी साहित्य

1. गुलामगीरी–1873

2. तृतीय रत्न नाटक–1855

3. पवाड़ा 'छत्रपति शिवाजी राजे भोंसले याचा काव्य' 1869

4. ब्राह्मणस्वे कसब–1869

5. महात्मा फुले समग्र वाड्मय (स. म. दि. फड़के)

6. शेतक–याचा असूड–1873

7. सार्वजनिक सत्य धर्म पुस्तक प्रकाशन–1891

(B) राजस्थानी साहित्य अप्रकाशित

1. अभय विलास, पृथ्वीराज नं. 1 प्रा. वि. प्र. जो.

2. जयपुर के राजाओ की वंशावली, गन्थाक नं. 83–17236, प्रा. वि. प्र. जो.

3. इतिहास सार समुच्य, ग्रन्थाक ं. 2527, 1 द्ध ओ. रि. ई. उ.।

4. रामचरित्र, उदयमान, नं. 31, सं. भ. पु. 301

5. सोनगरा वीरमदे री वातां, नं. 165, 2207, प्रा. वि. प्र. जो.।

6. राजस्थानी गीत संग्रह, नं. 149, 28998 (3) प्रा. वि. प्र. जो.।

(C) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, कोटा

1. सिद्धान्त युक्तावली

2. चौरासी वैष्णव की वार्ता।

3. ढौळो बावन वैष्णवों की वार्ता।

4. तत्व मीमांसा।

5. स्कन्द पुराण।

6. हरिवंश पुराण।

7. पदम पुराण।

8. वायु पुराण।

9. जैन दर्शन।

(ब) माध्यमिक स्रोत : समसामयिक स्रोत

1. ज्योतिराव फुले – सत्यशोधक समाज पूना का निबन्ध और भाषण प्रतियोगिता सभारम्भ।

2. ज्योतिराव फुले – अकाल के सम्बन्ध में प्रार्थना पत्र 17 मई, 1877।

3. ज्योतिराव फुले – सत्यशोधक समाज पूना का निबन्ध और भाषण प्रतियोगिता सभारम्भ।

4. अकाल के सम्बन्ध में प्रार्थना पत्र 17 मई, 1877

5. ज्योतिराव फुले – हण्टर शिक्षा आयोग को दिया गया निवेदन 18 अक्टूबर, 1882

6. ज्यातिराव फुले – मराठी ग्रंथकार सभा को पत्र 11 जून, 1855

7. ज्योतिराव फुले – गाँव पुरोहित के बारे में सूचना 29 मार्च, 1885

8. ज्योतिराव फुले – मामा परमानन्द को पत्र 2 जून, 1886

9. ज्योतिराव फुले – सत्यशोधक समाज के लिये उपयुक्त मंगल गाथा में तथा सभी पूजा : विधि जून 1837

10. ज्योतिराव फुले – महात्मा फुले का पत्र व्यवहार 1850 से 1888

11. ज्योतिराव फुले – महात्मा फुले का वसीयतनामा 10 जुलाई, 1887

12. ज्योतिराव फुले – अछूतों की कैफियत राजस्थानी साहित्य (अप्रकाशित)

(ग) हिन्दी साहित्य (प्रकाशित)

1. वंश भास्कर, सूर्यमल्ल मिश्रण, भाग–2, जोधपुर, वि.सं. 1956

2. वीर विनोद, श्यामलदास, मेवाड़, गवर्मेन्ट पब्लिकेशन, 1886।

(C) विविध ग्रंथ :

1. ''अथर्ववेद – भाष्यकार क्षेमकरण दास त्रिवेदी।

2. ''मनुस्मृति'' – भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1986।

3. सच्चिदानन्द भट्टाचार्य – ''भारतीय इतिहास'' लखनऊ, 1976।

4. यजुर्वेद – भाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती, नई दिल्ली, 1986

(घ) सरकारी रिपोर्टस्, सेन्सस एवं गजेटियर्स

1. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्टस कलकता, 1905–06

2. सत्यशोधक समाज, पूना की रपट 20 मार्च, 1871 सितम्बर, 1873 तक, 24 सितम्बर 1875 से 24 सितम्बर 1876 तक।

3. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्टस्, कलकता, 1922–23

4. एनुअल रिपोर्टस्, राजपुताना संग्रहालय, अजमेर, 1912–33

5. इम्पिरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, प्रोविन्सियल सीरीज, 1908

6. इंडियन आर्कियोलोजी – ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1957–58

7. राजस्थान वार्षिक जयपुर, 1997

8. सेन्सस ऑफ इण्डिया – पेपर प्रथम, 1954

(ङ) हिन्दी पुस्तकें

1. डॉ. आनन्द वास्कर – हिन्दी साहित्य में दलित चेतना, कानपुर, 1998

2. जियालाल आर्य – ज्योतिपूंज महात्मा फुले, नई दिल्ली, 1992

3. डॉ. बृजकिशोर शर्मा – भारत का इतिहास 1750–1950।

4. डॉ. बृजलाल शर्मा – महात्मा ज्योतिराव फुले इलाहाबाद, 1980

5. डॉ. भीमराव अम्बेडकर – साइटिग्स एण्ड स्पीचेज बम्बई, 1990

6. डॉ. भीमराव अम्बेड़कर – सम्पूर्ण वाङ्मय, नई दिल्ली, 1993

7. धनजय कीर – महात्मा फुले फादर ऑफ इण्डियन सोशल रिसोल्यूशन, बम्बई, 1974

8. एम.सी. कोटनला – ''राजा राममोहन राय एण्ड इण्डियन अवेकनिंग'' गीताजंलि, नई दिल्ली, 1975

9. के. दामोदरन – भारतीय चिन्तन परम्परा, दिल्ली 1982

10. डी. के. खापरेड़ – महात्मा ज्योतिराव फुले, दिल्ली, 1990

11. विश्वप्रकाश गुप्ता तथा मोहनी गुप्ता – स्वतंत्रता संग्राम और महिलायें, नई दिल्ली, 1990

12. पी. एल. गौतम – आधुनिक भारत (1757–1947) जयपुर, 1998

13. शिवकुमार गुप्ता – आधुनिक भारत का इतिहास, जयपुर, 1999

14. कन्हैयालाल चंचरिक – महात्मा ज्योतिबा फुले, दिल्ली, 1998

15. लक्ष्मण शास्त्री जोशी तर्कतीर्थ – ज्योतिराव फुले, दिल्ली 1982

16. श्रीपाद जोशी – महाराष्ट्र के समाज सुधारक, पुणे, 1969

17. मुरलीधर जगताप – युगपुरूष महात्मा फुले, महात्मा फुले चरित्र साधने, मुम्बई, 1993

18. डी. आर. जाटव – भारतीय समाज एवं विचार धाराएँ, जयपुर, 1997

19. एस. आर. टेक टिकेकर – लोकहितवादी न्यायीशतपत्र, बोम्बे, 1964

20. ताराचन्द – भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग–2, दिल्ली, 1967

21. रोमिला थापर – भारत का इतिहास, दिल्ली, 1999

22. अभिलाष दास – फुले और पैरियार – कबीर पाख, इलाहाबाद, 1998

23. एस. एल. नागौरी, कान्ता नागौरी – आधुनिक भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जयपुर, 2001

24. बी. आर. पुरोहित – आधुनिक भारतीय राजनीति, जयपुर, 2004

25. श्योराज सिंह बेचैन – दलित क्रान्ति का साहित्य, दिल्ली, 1998

26. सच्चिदानन्द भट्टाचार्य – ''भारतीय इतिहास कोश'', लखनऊ, 1975

27. महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली, भाग–2, अनुवादक विमलकीर्ति, नई दिल्ली, 1974

28. एम. जी. माली – क्रान्ति ज्योति सावित्री बाई फुले, नई दिल्ली, 1986

29. योगमाया – महात्मा ज्योतिराव फुले दर्शन एवं चिन्तन, जयपुर, 2004

30. एम. आई. राजस्वी – महात्मा ज्योतिराव फुले, दिल्ली, 1974

31. वेदकुमार वेदालंकार – शेतक माचा आसूद किसान का कोड़ा, महात्मा ज्योतिराव फुले चरित्र साधने, मुम्बई, 1996

32. वेदकुमार वेदलंकार – गुलामगीरी, बम्बई, 1994

33. वी. पी. वर्मा – आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, 1975

34. मु. ब. शाह – भारतीय क्रान्ति के जनक महात्मा ज्योतिराव फुले, नई दिल्ली, 1986

35. रामलखन शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1988

36. प्रभात कुमार स्वामी – समाज सुधार में ज्योतिबा फुले का योगदान, जोधपुर, 2007

37. सी. एम. सरस्वती – आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तक, मेरठ, 1998

38. हरिनरके – महात्मा फुले साहित्य और विचार – महात्मा फुले चरित्र साधने, मुम्बई, 1993

39. कर्नल जेम्स टॉड – राजस्थान का इतिहास (अनुवाद कालूराम शर्मा) एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटीज ऑफ राजपूताना का हिन्दी अनुवाद, जयपुर, 1984

40. दशरथ शर्मा – आधुनिक राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1920

41. डॉ. रामप्रसाद शर्मा – आधुनिक राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1858

42. शिवकुमार गुप्त – आधुनिक भारत का इतिहास, जयपुर, 1995

43. बेनी गुप्ता बोहरा – राजस्थान का इतिहास, जयपुर 1998

44. डॉ. गोपीनाथ शर्मा – राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, जयपुर, 1997

45. शिवकुमार गुप्त – भारतीय चिन्तन का इतिहास, जयपुर, 1999

46. एम. एस. जैन – आधुनिक राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1987

47. बी. एन. पनगड़िया – राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1991

48. डॉ. हरफूल सिंह आर्या, डॉ. शिवपाल सिंह सैनी – आधुनिक भारत का इतिहास, जयपुर, 1971

49. शिवकुमार गुप्त – आधुनिक भारत का सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास, जयपुर, 1991

50. हरिशंकर शर्मा, डॉ. सरोज पावा – राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1995

51. अनिला कुमारी गंगवाल – जयपुर के प्रमुख त्योहार, जयपुर, 1974

52. आद्यादश ठाकुर – वेदों में भारतीय संस्कृति, 1967

53. ए. एल. श्रीवास्तव – भारतीय कला, इलाहाबाद, 2002

54. बी. एम. दिवाकर – राजस्थान के इतिहास के स्रोत, अजमेर, 1972

55. बलदेव प्रसाद मिश्र – भारतीय संस्कृति, बनारस, 1960

56. भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, दिल्ली, 1991

57. चौबे और श्रीवास्तव – मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1991

58. चौपड़ा पुरी व दत्त – भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1988

59. घनश्याम दत्त शर्मा – मध्यकालीन भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, जयपुर, 1992

60. जी. एच. ओझा – राजपूताने का इतिहास, अजमेर, 1937

61. हरिदत्त वेदलंकार – हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, उत्तर प्रदेश, 1970

62. जगदीश सिंह गहलोत – राजस्थान के राजवंशो का इतिहास, जोधपुर, 1960

63. जी. एस. एल. देवड़ा – राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, (1574–1818) बीकानेर के विशेष संदर्भ में, बीकानेर, 1981

64. कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, दिल्ली, 2001

65. लता सिंह – भारतीय संस्कृति में नारी : स्मृति ग्रंथों के विशेष संन्दर्भ में, दिल्ली, 1991

66. पी. सरीन – भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की रूपरेखा, जयपुर, 1982

67. पाण्डुरंग वामन काणें – धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–5 (अनुवाद) अर्जुन चौबे कश्यप, लखनऊ, 1973

68. राघवेन्द्र सिंह मनोहर – राजस्थान के राजघरानों का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर, 1991

69. रानी लक्ष्मी कुमारी चूडांवत – सांस्कृतिक राजस्थान, जयपुर, 1994

70. राजबली पांडेय – हिन्दू संस्कार – बोम्बे, 1949

71. सूर्यमल्ल मिश्रण – वंश भास्कर, दिल्ली, 2007

72. डॉ. शशि अरोड़ा – राजस्थान में नारी की स्थिति (1600–1800 ई.), बीकानेर, 1981

73. वासुदेव शरण अग्रवाल – कला और संस्कृति, इलाहाबाद, 1952

74. चाइल्ड मैरिज रैस्ट रैण्ट एक्ट, 1929 (शारदा एक्ट)

75. डॉ. एम. सत्या राय – भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद, दिल्ली, 1983

76. प्र. म. बादिवडेकर – महात्मा फुले और समकालीन समाज व्यवस्था, फुले साहित्य और विचार, मुम्बई, 1993

77. डॉ. जयशंकर मिश्र – व्यास स्मृति, 2.53, दक्ष स्मृति,

78. खींची गगेव नीबावंत रो दोपहरो राजान राउतरो बात–बगावत, राजस्थान पुरातन ग्रंथ माला, उदयपुर, 1930

79. महाराजा तख्त सिंह री ख्यात परम्परा – सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, जोधपुर, 1992

80. हरदान हर्ष – स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवन और विचार, जयपुर, 2007

81. जवाहर लाल नेहरू – इतिहास के महापुरूष, दिल्ली, 1963

82. नारायण सिंह भाटी – समाज रत्न हरविलास शारदा, जोधपुर, 1988

83. डॉ. प्रीर्ति प्रभा गोयल – भारतीय नारी विकास की ओर, जोधपुर, 2009

84. शैलेन्द्र मौर्य – राजस्थान में महिला विकास प्रारम्भ से आज तक, जोधपुर, 2007

85. हरविलास शारदा – स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवन और विचार, जयपुर, 1977

(ग) अंग्रेजी पुस्तकें :

1. डॉ. भीमराव अम्बेडकर – साइटिग्स एण्ड स्पीचेज खण्ड–7, बम्बई, 1990
2. गेल ओमवेट – कल्चर रिवाल्ट इन ए कोलोनियल सोसायटी नोन ब्राहिन मूवमैंट फ्राम 1833 से 1930 इन वेस्टर्न इण्डिया, सांइटिफिक सोशलिस्ट, दिल्ली, 1973
3. आर. सी. मजूमदार – ब्रिटिश पैरामाण्टेसी एण्ड इण्डियन रिनेशा भाग–2, दिल्ली, 1972
4. जे. आर. शिन्दे – फुलेज स्ट्रेटजी ऑफ सोशल रिवोल्यूशन, दिल्ली, 1985
5. अनन्त सदाशिव अल्टेकर – पोजीशन ऑफ वीमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस, 1938
6. अतहर अली – दी मुगल नॉबिलिटी अण्डर औरंगजेब, एशिया, 1966
7. इन्द्रा – स्टेट्स ऑफ वीमन इन एनशिएन्ट इंडिया, बनारस, 1955
8. ए. सी. बनर्जी – राजपूत स्टडीज, कलकत्ता, 1944
9. कर्नल जेम्स टॉड – एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान आक्सफोर्ड, 1920
10. के. एम. पन्निकर – हिज हाईनेस दी महाराजा ऑफ बीकानेर, ऑक्सफोर्ड, 1937

11. जी. एन. शर्मा – ए बिब्लियोग्राफी ऑफ मिडीवल राजस्थान, आगरा, 1956

12. जी. एन. शर्मा – सोशयल लाइफ इन मिडीवल राजस्थान (1500–1800), आगरा, 1968

13. जी. एस. एल. देवड़ा – ब्यूरोक्रेसी इन राजस्थान, बीकानेर, 1980

14. जी. एस. एल. देवड़ा – सोशियो इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, जोधपुर, 1980

15. तारा अली बेग – इंडियन वूमन पावर, दिल्ली, 1976

16. दशरथ शर्मा – अर्ली चौहान डायनेस्टीज, दिल्ली, 1950

17. दशरथ शर्मा – राजस्थान थ्रू दी एजेज, बीकानेर, 1966

18. पी. सरन – स्टडीज इन मिडिवल इंडियन हिस्ट्री, बम्बई, 1973

19. प्रमिला कपूर – दी चेजिंग स्टेट्स ऑफ वर्किंग वीमन, नई दिल्ली, 1998

20. कानूनगो – स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, दिल्ली, 1960

21. पी. थामस – इंडियन वूमन थ्रू द ऐजेज, न्यूयार्क, 1964

22. राजकुमारी पृथी रामेश्वरी देवी एण्ड रोमिला पृथी – स्टेट्स एण्ड पोजीशन ऑफ वूमन इन एनशियन्ट मिडीवल एण्ड मॉडर्न इंडिया, जयपुर, 2001

23. शान्ता रानी शर्मा – सोसायटी एण्ड कल्चर इन राजस्थान 700 से 900 ई., दिल्ली, 1996

24. सतीश चन्द्रा – मिडीवल इंडिया : सोसायटी द जागीरदारी क्राइसेस एण्ड द विलेज, दिल्ली, 1982

25. शंकुतला राव – द वूमन इन द वैदिक वैदिकएज, बाम्बे, 1952

26. एस. एस. गहलोत राजस्थान : हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल, जोधपुर, 1992

27. एस. के. शर्मा एण्ड उषा शर्मा – हिस्ट्री एण्ड ज्योग्राफी ऑफ राजस्थान, नई दिल्ली, 2000

28. यू. एन. धोषाल – स्ट्डीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1917

सम्पादित पुस्तकें (अंग्रेजी)

1. रिचर्ड बर्न – द मुगल पीरियड, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी

2. देविका जैन – इण्डियन वीमन, 1975

(ङ) शोध प्रबन्ध

1. डॉ. नारायण सिंह राव – रूरल इकोनोमी एण्ड सोसाइटी ऑफ साउथ इस्टर्न राजस्थान ड्यूरिंग द एनसिएन्ट सेंचुरी, अप्रकाशित शोध प्रबंध जे. एन. यू., नई दिल्ली, 1991

2. पीताम्बर कुमार दत्त – बून्दी राज्य का सांस्कृतिक अध्ययन

3. डॉ. संगीता गुप्ता – हाडौती संभाग का सांस्कृतिक अध्ययन वैष्णव धर्म एवं स्थापत्य के विशेष संन्दर्भ में (17वीं से 19वीं शताब्दी तक) अप्रकाशित, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा, 2008

4. सन्तोष चौहान – हाडौती में नारी की स्थिति (1600–1800 ई.) अप्रकाशित शोध प्रबंध, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा, 2013

(च) पत्रिकाएं :

1. हिमायती, पाक्षिक पत्र, फरवरी, 2000, बम्बई

2. अकाल पीड़ितों की सहायता हेतु पत्र, 17 मई 1877, ज्ञान प्रकाश, पत्र 24 मई, 1877

3. शुभ वरीयमना पत्र, 1873

4. राजकीय गजट बोम्बे, 25 दिसम्बर, 1876

5. विविध ध्यान विस्तार पत्र, आर. बी. गुंजीकर, नवम्बर, 1873

6. नवशक्ति 24 सितम्बर, 1872

7. सुबोध पत्रिका, 21 फरवरी, 1881

8. बोम्बे गार्जियन 2 अक्टूबर, 1852

9. ध्यानोदय पत्र, 2 अक्टूबर, 1853

10. फैड ऑफ इण्डिया, 10 जून, 1852

11. लोक कल्याणयेचु पत्र, बम्बई, 1873

12. सत्यदीपिका समाचार पत्र 24 सितम्बर, 1875, बम्बई

13. पूना अब्जर्वर, 12 जून, 1852

14. हण्टर शिक्षा आयोग को दिया गया निवेदन, 19 अक्टूबर, 1882